इकाई : 1 प्राचीन भारतीय चिन्तन , विशेषतायें

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व
1.3.1 चिन्तन के विविध नाम
1.3.2 चिन्तन का महत्व
1.3.3 चिन्तन के स्त्रोत
1.3.3.1 देशी स्त्रोत
1.3.3.2 विदेशी स्त्रोत
1.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप
1.4 चिन्तन का विकास
1.4.1 विकास के चरण
1.4.2 भारतीय चिन्तन की विशेषतायें
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगल काल तक माना जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गुलामी के समय इस भ्रम को फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अति साधारण स्तर का है। कुछ विद्वानों ने इसे आदर्शवादी अव्यवहारिक माना। भारत के वेद पुराण उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन के उत्कर्ष उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आद्युनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का दर्शन व्यावहारिक है। भारतीय चिन्तन व्यावहारिक ही नहीं अत्याधिक उपयोगी है। भारतीय चिन्तन का मूल मानव है व मानव के चारों ओर घूमता है। पाश्चात्य चिन्तन में मानव 18वीं शताब्दी में केन्द्रबिन्दु बना। जबकि भारतीय चिन्तन में यह प्रारम्भ से ही है। भारतीय चिन्तन को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कभी इसे राजधर्म, राजशास्त्र , दण्डनीति तथा नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। पंचतंत्र में इसे नृपतंत्र कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य , वेद पुराण , धर्मशास्त्रों , उपनिषदों, महाकाव्यों , जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों को शमिल किया जाता हैं। इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें हृवेनसांग एवमं फाहृयान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन के स्त्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा जाता है। इसमें आध्यात्मिकता पर बल है। भारतीय चिन्तन में राज को आवश्यक माना जाता है। इसमें राज का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें दण्ड की कठोर की व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण व्यावहारिक हैं और राजा का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम प्राचीन भारतीय चिन्तन -

1. को समझ सकेंगे।

2.के मुख्य स्त्रोतों के बारे में जान सकेंगे।

3. की मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे।

4. पर देशी प्रभाव तथा विदेशी प्रभाव को समझने में भी सहायता मिलेगी।

5.और पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन के अन्तर को समझ सकेंगे

1.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अति प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगलकाल तक माना जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व जब दुनिया में चिन्तन का विस्तार नहीं हो पाया था उस समय भी भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक चिन्तन सर्वोच्च शिखर पर था। यह गौरवशाली परम्परा वैदिक काल से आज तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इस भ्रम को फैलाया कि भारत का प्राचीन चिन्तन अति साधारण है इसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। उनमें से कुछ विद्वानों ने इसे निरा आदर्शवाद, अव्यवहारिक रहस्यवाद से भरा हुआ बताया। इस भ्रम को मैक्स मूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने आगे बढ़ाया । समय गुजरने के साथ नये तथ्य सामने आये और फैलाया गया भ्रम टूट गया। नये तथ्यों ने स्पष्ट किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन से अत्यधिक प्राचीन एवं प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो एवं अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक का व्यापक विवरण मिलता है। भारत के वेद, पुराण, एवं उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन की उत्कृष्ट नमूने है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आधुनिक स्वरूप का उदाहरण है। अरस्तू के समकालीन कौटिल्य का सम्पूर्ण दर्शन व्यवहारिक है तथा यह सिद्ध कारता है कि भारत का चिन्तन कहीं भी पीछे नहीं है। यहां पर मैक्सी का कथन प्रासगिंक हो जाता है जब वह कहते है-''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।''एशियाटिक सोसायटी के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन की बदली परिस्थितियों में भारतीयों की संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस की गई। यहीं से भारतीय चिन्तन का नया स्वरूप दुनिया के सामने आया।

1.3.1 चिन्तन का महत्व

दुनिया में अनेक विद्वान राजनैतिक चिन्तन को अनुपयोगी एवं हानिपद्र मानते है। इसमें मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंगआदि प्रमुख हैं। स्टीफन तो कहता है कि -''वे देश भाग्यशाली है जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिन्तन निकट भविष्य में होने वाली क्रान्तिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।'' डनिंग का स्पष्ट मत था कि -'' जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आ गई है।''

उपरोक्त कथन चिन्तन को अनुपयोगी मानते है। वे इसे आदर्शवादी, काल्पनिक भ्रम पैदा करने वाला मानते है। वे तर्क देते है कि अच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि सैद्धान्तिक ज्ञान व्यवहारिक नहीं होता है तथा व्यवहारिक ज्ञान सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरता है।

प्लेटो इसका आदर्श उदाहरण है। वह अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा। इसका दूसरा दोष यह है कि अधिकांश विचार परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः उनका सामान्यीकरण करते हुए सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। राजनैतिक दर्शन में हाल्स, रूसो तथा मैकियावेली के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की देन थे। कतिपय यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके विचार को मानव के प्रति नकारात्मक बना दिया था। उपरोक्त दोष के होते हुए भी चिन्तन का अध्ययन मानवोपयोगी है। इससे होने वाले लाभ निम्न है-

1.राज्य और उसका मूर्त रूप सरकार है। यह मानव से निर्मित है तथा मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अतः मानव के संबंध में विचार करना, विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना सदैव से मानव तथा समाज के लिये लाभदायक रहा है।

2.राजनीतिक चिन्तन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों ने मानव को बहुत लाभ पहुंचाया है। रूसो के विचारों ने 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और इसी क्रान्ति से समानता, स्वतन्त्रता तथा भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स ने 20वीं शताब्दी में ''बोल्शेविक क्रान्ति'' को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।

3.राजनीतिक चिन्तन से एक अलग प्रकार का लाभ यह होता है कि यह विभिन्न प्रकार की गई शब्दावलियों, सिद्धान्तों को जन्म देता है। इसमें प्रमुख्य रूप से राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्षता आदि प्रमुख है।

4.राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से एक अन्य लाभ यह होता है इससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उसकी व्याख्या करने में सहायता मिलती है।

5.इससे वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में रहती है। अतः उसका निवारण भी इतिहास से आता है। चिन्तन समस्या का निवारण ही नहीं करता वरन् भविष्य में आने वाली समस्याओं का हल एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि चिन्तन का अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद है। यह स्वभाविक प्रक्रिया है जो लम्बे समय से चली आ रही है।

1.3.2 चिन्तन के विविध नाम

राजनीतिक चिन्तन को प्राचीन समय में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यह समयानुसार न केवल नाम वरन् अपनी लोकप्रियता को खोता एवं पाता रहा है। यहां पर प्रो0 अलतेकर का कथन प्रांसगिक हो जाता है जब वह कहते है-''राजधर्म, राजशास्त्र, दण्ड नीति, नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को संबोधित किया गया है।'' विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इसके विविध नाम दिखायी पड़ते है जैसे विभिन्न स्मृतियों में इसे राजधर्म, महाभारत में इसे राजशास्त्र ,

दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र कहा गया। पंचतत्र में इसे नृपतंत्र कहा गया। इसको दण्डनीति पुकारने का आधार भी बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का अंतिम आधार दण्ड को ही मानते है। वे मानते है कि राजनैतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दण्ड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। अतः दण्ड द्वारा ही भय उत्पन्न कर व्यवस्था लायी जा सकती है। अतः राजनीतिक चिन्तन को दण्ड नीति का पुकारा गया।

कौटिल्य ने इस धारणा को अस्वीकार किया। उसकी मान्यता थी कि दण्ड से भय उत्पन्न होता है। वे कहते है कि कानून तोड़ने वालों को दण्डित करने से जनता स्वतः कानूनों का पालन करने की ओर बढ़ती है। मनु ने दण्ड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना वरन् दण्ड को शासक माना। ऐसे में शासक को कर्तव्य तथा समाज को बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति के नाम से जाना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में शासननीति का ही विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया जाता है। उचित अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक उस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। कामदंक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रन्थ नीति शास्त्र के नाम से जाना जाता है। वे इसे राज्य शास्त्र या दण्ड नीति के नाम से नहीं पुकारते हैं। कौटिल्य ने अपने शासन संबंधी ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहा। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट होता है। साथ ही वह भूमि भी इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः उस भूमि को प्राप्त करना तथा उसको बनाये रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र ने केवल संपति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है वरन् शासन शास्त्र के सिद्धान्तों को भी स्थापित करना है। क्रामन्दक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया जाता था वहीं जब सामान्य आचरण के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा है। राजनीति तो इसका एक हिस्सा है। ऐसे में राज्य से संबंध रखने वाले नियमों तथा तथ्यों को आचरण के अन्य पहलूओं से अलग दिखाने के लिये नीति शब्द के साथ ''राज'' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। डा0 भण्डारकर के शब्दों में-'' जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिये राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाय।''

प्राचीन भारत में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते है। यह संकुचित विषय न होकर व्यापक विषय था। इसमें आने वाले विषय को धर्म से अलग नहीं रखा गया था। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ ग्रन्थ कई बातें सम्मिलित थी। इसमें जनकल्याणकारी कार्य भी शामिल थे।

1.3.3 चिन्तन के स्त्रोत

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषेदों, महाकव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातक शमिल हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न विद्धानों की रचनाओं जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र, शुक्र नीति आदि प्रमुख हैं। इसी समय अनेक शासकों के समय विदेशी विद्वानों ने उनके राज्य का न केवल भ्रमण किया वरन् व्यापक सामायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विश्लेषण अपने ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इसमें फाहयान एवं हवेनसांग का विवरण उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों जैसे पाणिनी के व्याकरण, अष्टध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस से भी जानकारी मिलती है। यहां पर डा0 जयसवाल का कथन प्रासंगिक हो जाता है-'' हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें प्राप्त होती है। सौभाग्य से इस समय हिन्दू राजनीति शास्त्र के कुछ मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध है।''

भारतीय चिन्तन के स्त्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न भागों में बांट सकते हैं-

1. देशी अथवा भारतीय स्त्रोत
2. विदेशी स्त्रोत

1.3.3.1 देशी स्त्रोत

देशी अथवा भारतीय स्त्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं जिसमें मुख्य रूप से वेद उनकी संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र सम्मिलित है। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिन्तन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है। भारतीय चिन्तन के भारतीय स्त्रोत निम्नलिखित है-

1.वेदः- भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। यह चार भागों में हैं जिनको ऋगवेद , सामवेद, यजुर्वेद तथा यर्थववेद आदि हैं। इनमें वेदों के माध्यम से शासन तथा राज्य की उत्पति के सिद्धान्तों का पता चलता है। इसमें राजा के अधिकार, राजा-प्रजा संबंध तथा शासन नीतियों का विस्तृत मिलता है। वास्तव में वेद प्राचीनतम स्त्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीति तथा पद्धति का अच्छा ज्ञान होता है।

2.ब्राह्मण तथा उपनिषदः- वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गटा टीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण साहित्य में मुख्य रूप से तटेय, पंचविश, शतपथ, तैतरीय आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपनिषेदों के द्वारा तत्कालीन समाज, शासन तन्त्र, राजा प्रजा संबंधों का पता चलता है। उपनिषेदों की संख्या बहुत है। इसमें मुख्य रूप से वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताखतर, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनमें विम्बसार के पूर्व की राजनैतिक दशा का ज्ञान होता है।

3.महाकाव्यः-वैदिक साहित्य के बाद साहित्य के दो स्तम्भों रामायण था महाभारत की रचना होती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा को सामने लाने का श्रेय इन ग्रन्थों को है। रामायण के रचियता वाल्मिकी ने भगवान राम के चरित्र वर्णन से सम्पूर्ण समाज का चित्र ही उकेर कर रख दिया है। महाभारत में शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है। यह प्राचीन चिन्तन को मजबूत करते हैं।

4.पुराणः- महाकाव्यों के साथ पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते है। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इसमें आदिम काल से गुप्तकाल की समस्त सामग्री का उल्लेख है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में, मत्स्य पुराण आंध्र वेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायुपुराण में गुप्तों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वायु पुराण में ही सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की उत्पति का वर्णन है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व सर्वाधिक है जिसमें शासन का जनकल्याण का आधार बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के नियमों के पालन तथा जनकल्याण पर बल दिया गया है।

5.स्मृतियाँ- ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्वय, नारद, बृहस्पति, पराशर, आदि की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इन स्मृतियों में साधारण वर्णाश्रम, धर्म, राजा के कर्तव्य, प्राचश्चित आदि का विस्तृत विवरण है।

6.जैन साहित्यः- जैन साहित्य प्राचीन चिन्तन को प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों में उपलब्ध है। जैन सूत्रों में इतिहास की अनेक उपयोगी सामग्री है। जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र लिखित ''परिशिष्ट पर्वन'' बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में महावीर के काल से मौर्यकाल का विस्तृत विवरण मिलता है। भद्रवाहु चरित नामक दूसरे ग्रन्थ में भद्रबाहु से लेर चन्द्रगुप्त मौर्य तक बहुत जानकारी मिलती है।

7.बौद्ध साहित्यः- बौद्ध धर्म में तीन प्रमुख ग्रन्थ है। जिन्हें त्रिपटक के नाम से जाना जाता है। इनमें संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक आदि है। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। निकाय एवं जातक ग्रंथों में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती समाज का उल्लेख है। बौद्ध धर्म ग्रन्थ दिव्यावदान, ललितावस्तार, महावस्तु, मंजुशी आदि संस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त अश्वेघोष का बुद्ध चरित वसुवंधु का धर्म कोष, नागार्जुन का माहययिका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

8.लौकिक साहित्यः- लौकिक साहित्य तत्कालीन समाज का विभिन्न काल खण्ड में चित्रण करते हैं। इसमें कालीदास की रचनायें, पाणिनी की रचनायें, पतंजलि की रचनायें प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं जैसे पाणिनी की अष्टध्यायी तथा पंतजलि की व्याकरण महाभाष्य के द्वारा तत्कालीन समाज का चित्र खींचा।

9.कौटिल्य का अर्थशास्त्रः- कौटिल्य का ''अर्थशास्त्र'' भारत का ही नहीं वरन् विश्व के प्रमुख राजनैतिक ग्रन्थों में से एक था। इसे राजनीति शास्त्र का आधार माना जाता है। ''अर्थशास्त्र'' में राजा को वेद तथा तत्वज्ञान आदि विषय का अध्ययन करने को कहा गया है। सलटोरो के शब्दों में - ''प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।''

10.नीतिशास्त्रः- नीतिशास्त्रों में कांमदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति सार का महत्वपूर्ण योगदान है। कौटिल्य के बाद राज्य एवं शासन पर लिखे ग्रन्थों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कांमदनीय नीतिसार गुप्तकाल में 500ई0 के आसपास लिखा गया। शुक्रनीति भी तत्कालीन शासन व्यवस्था का वर्णन करता है। इसके समय में गणराज्यों का अंत हो चुका था अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्र के अनुसार शासन का उद्देश्य जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

11.अन्य ऐतिहासिक स्त्रोतः- अन्य ऐतिहासिक स्त्रोत में विभिन्न कालखण्डों में रचित विभिन्न रचनायें है। इसमें कल्हण रचित राजतंरगिणी प्रमुख है। इसमें प्राचीन काल से 12 वीं शताब्दी तक का कश्मीरी इतिहास का उल्लेख है। बाणभट्ट द्वारा रचित "हर्ष चरित" में हर्ष के शासन के विभिन्न पहलूओं का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का ''नवसाहसाँकचरित'' परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रन्थ ''गौडवहों'' से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के शासन की जानकारी मिलती है। विल्हण रचित "विक्रमांक देव चरित्र" ग्रन्थ से कल्याण के चालुक्य वंश के इतिहास का पता चलता है। पाँतजलि के "महाभाष्य" और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' शुगवंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। विशाखदत्त के "मुद्राराक्षस" नाटक के द्वारा नंदवंश तथा मौर्यवंश का उल्लेख मिलता है। चन्दवरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

1.3.3.2 विदेशी स्त्रोत

भारतीय चिन्तन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्त्रोत विदेशी स्त्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से विदेशों विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शमिल किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है। यूनानी विचारकों को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता हैः-

1. सिकंदर के पूर्व के विचारक - स्काइलेक्स, हैरोडोटस, हीसियस

2.	सिकंदर के समकालीन	-	नियक्सि, ओनिसक्रेटिस
3.	सिकंदर के बाद	-	मेगस्थनीय

सिकंदर के पूर्व के यूनानी विचारकः- इसमें मुख्य रूप से स्काइलेक्स था जो एक यूनानी सैनिक था। उसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसका विवरण मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

सिकंदर के समकालीन विचारकः- सिकंदर के समकालीन विचारकों में अरिस्टोवुलस, निर्याकस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि प्रमुख थे। ये वे विद्वान थे जो आक्रमण के समय सिकंदर के साथ भारत आये थे। वे भारतीय समाज के साथ नजदीक से जुड़े थे। कतिपय यही कारण था कि इनका विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना जाता है।

सिकंदर के बाद के विचारकः- इसमें मुख्य रूप से मेगस्थनीय, डायमेकस, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि प्रमुख हैं। यूनानी विचारकों में सर्वाधिक प्रमाणिक विवरण मेगस्थनीय का माना जाता है। जिन्होंने अपनी रचना 'इण्डिका' के माध्यम से एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। एरियन, जस्टिन, डायोडोरस का विवरण मुख्यतः सिकंदर के अभियानों से संबंधित था।

इसके अतिरिक्त एक विदेशी रचना 'पेरीप्लस आफ दी एरीशियन सी' ने तत्कालीन व्यापार, विदेशों संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त टाल्मी का भूगोल, टिलनी का 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस का 'क्रिश्चयन आफ दी यूनीवर्स' में भारत भौगोलिक सांस्कृतिक विस्तार का विवरण प्रदान करते हैं।

चीनी यात्रियों का विवरणः- चीनी यात्रियों द्वारा विभिन्न कालखण्डों मे दिया गया विवरण बहुत उपयोगी है। इन चीनी यात्रियों में फाह्यान, ह्वेनसांग तथ इटसिंग है। फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय भारत आया था। उसने बौद्ध तीर्थी का भ्रमण किया तथा उसका विस्तृत विवरण दिया। ह्वेनसांग हर्ष के समय भारत आया उसने समूचे भारत का भ्रमण किया। 7 वीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत में शिक्षा के उच्च अध्ययन केन्द्र नालंदा विश्वविद्यालय , तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उनके सम्पूर्ण विवरण से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिणक अवस्था का ज्ञान होता है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरणः- भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों तथा यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिन्द' से तत्कालीन राजपूत कालीन भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति-रिवाज आदि का वर्णन मिलता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' आदि ग्रन्थ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण करते है।

1.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप

पुरातन अवशेष ही अनेक उलझी पहेलियों को सुलझाते हैं। भारत के इतिहास में प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक रहस्यों से पर्दा हट रहा है। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका पुरातन अवशेषों का रहता है। इन्हीं के अध्ययन से हमें सामवाहन वंश के आद के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्व में मुख्य रूप से प्राचीन अभिलेख, प्राचीन, मुद्रा, प्राचीन भवनों, स्मारकों आदि को शामिल किया जाता है। मार्शल, स्यूनर, आर0डी0 बनर्जी ने अनेक स्थानों पर खुदाई कर नये तथ्यों को उजागर किया। उनके प्रयासों से इतिहास का नया स्वरूप तथा लोगों के सोच की धारा ही बदल गई। डा0 आर0 डी0 बनर्जी ने 1921-22 में सिंध प्रांत में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की खुदाई करवाई। इन खुदाई से जो नये तथ्य सामने आये उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इस दिशा में मार्शल का योगदान उल्लेखनीय है। गया, कालीवंगा, लोथल आदि की खुदाई ने नये रहस्यों पर से आवरण हटाया। पुरातत्व विद्वानों ने खुदाई में प्राप्त सामाग्रियों जैसे शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, श्रींगार सामग्रियों का अध्ययन कर इतिहास को नये तथ्यों से अवगत कराया। विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से विभिन्न कालखण्डों की जानकारी मिलती है।

विभिन्न अभिलेखों जैसे गुफालेख, शिलालेख, स्तंभ लेख, ताम्र पत्र आदि को शामिल किया जाता है। ये अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए है। इनके अध्ययन से राजनीति, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता है। उनके प्रमुख अभिलेखों में हाथी, गुफा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पाण्डव, पल्लव राजाओं के अभिलेख महत्वपूर्ण है। ये सभी अभिलेख प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है।

मुद्राएँ- प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार मुद्राएं हैं। ईसा से पूर्व 200 से 300 ई0 तक के भारत के इतिहास की सम्पूर्ण जानकारी हमें मुद्राओं के माध्यम से प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन शासकों जैसे पल्लव, शक, वैक्ट्रियन के अध्ययन का आधार मुद्रा हैं। मुद्राओं में गुप्तकालीन मुद्राओं का बहुत महत्व है। वे न केवल अत्याधिक कलात्मक है वरन् उसके निहितार्थ भी व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का बोध होता है। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतन्त्रों का अस्तित्व इन मुद्राओं के माध्यम से सिद्ध होता है।

स्मारक

इसके अन्तर्गत विभिन्न भवन, मूर्तियाँ आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों, भवनों आदि को शामिल किया जाता है। इनसे सामाजिक, धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। लक्षशिला के टूटते भवनों में कुषाणवंश का विस्तृत विवरण मिलता है। पाटिलीपुत्र के भवनों से मार्य

वंश का विस्तृत ज्ञान होता है। देवगढ़, कानपुर, झांसी आदि के अनेक भवनों में गुप्त वंश के सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का बोध होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन को प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। चिन्तन के स्त्रोत में देशी-विदेशी स्त्रोत तो को ही साथ ही विभिन्न पुरातन अवशेष, शिलालेखों, मुद्राओं ने न केवल तथ्य उजागर किये वरन् सम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित किया।

1.4 भारतीय चिन्तन का विकास

भारत में चिन्तन के विकास का प्रारम्भ भारत में आर्यों के आगमन से माना जाता है। काल खण्ड की दृष्टि से यह काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा पूर्व तक है। इन आर्यों का समाज जैसे ऋग्वेद में अंकित था पितृप्रधान था। शासन राजतन्त्रात्मक था। राजा निर्वाचित एवं नियन्त्रित था। समय के साथ वह वंशानुगत एवं नियंत्रणमुक्त हो गया। वैदिक काल में सभा एवं समिति लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी। वह राजा को समय-समय पर परामर्श भी देती थी।

धर्म एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव समय के साथ बढ़ा। युद्ध में विजय तथा लाभ की लालस ने 'बलि' प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्य, महत्व को बढ़ावा मिला। जनसंख्या बढ़ी तथा कार्यों के आधार पर 'विशेषीकरण' पर बल दिया गया। युद्धों की संभावना की अधिकता के कारण एक संगठित सेना की आवश्यकता महसूस की गई। युद्ध के विशेषज्ञों को क्षत्रिय कहा गया। अनेक कर्मकाण्डों, रिवाजों के लिये ब्राह्मणें का महत्व बढ़ा। अत्याधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का विस्तार हुआ और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसके कारण समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी समय कृषि उद्योग एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नई जातियां बनने लगी। इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में पराजित हो गये थे वे दास के रूप में स्थापित हो गये। इस प्रकार नई परिस्थितियों एवं विकास ने समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया।

द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गये। सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक विकास होने लगा। राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक शक्ति का विकास हुआ। राजा निर्वाचित के स्थान पर वंश आधारित हो गया। इसी समय राजा कानून का संरक्षक एवं सम्प्रभु बन गया। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई।

विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रमुत्व से बाहर आ गया। राजा अत्याधिक सशक्त हो गया और वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म, जैन धर्म के साथ प्रारम्भ हुई। ब्राह्मणवाद पर कठोर प्रहार हुआ। इन दोनों धर्मों ने राजा का समर्थन प्राप्त किया। राजा के समर्थन से न केवल इन दोनों धर्मों का तीव्र विस्तार हुआ वरन् ब्राह्मणवाद का प्रभाव कम हुआ। यहीं से नये उदार विचारों का जन्म हुआ। नये विचारों को समाहित करते हुए नये कानून बनाये गये।

राजा नई परिस्थितियों में और अधिक मजबूत हो गया। वह नये धर्मों का प्रसार कर रहा था साथ ही कट्टर पुरातन व्यवस्था पीछे छूट रही थी। राजा निरन्तर मजबूत होता जा रहा था। इसी समय बड़ी राजशाही स्थापित होने लगी। बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग-अलग धर्मों की ओर होने लगा। जहां सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था वहीं सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक था। सामाजिक समरसता, सौहार्द बनाये रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियन्त्रित करने के लिये राजा ने बल का प्रयोग किया। उसने स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल प्रारम्भ किया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आये। नये छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तथा नये राजा अस्तित्व में आये। शक एवं कुषाण राज्य स्थापित हुए। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और कमजोर हुई। इसी समय दैवीय अधिकारों पर बल मिला। अनेक शक एवं कुषाण शासकों ने अपने को ईश्वर पुत्र घोषित कर दिया। यही से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्याख्याकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था। इसके बावजूद महत्वपूर्ण मामलों में शक्तियों का केन्द्रीकरण था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान था तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

1.4.2 भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक व्यवस्था थी उसकी अपनी विशेषता थीं जो उसे पाश्चात्य चिन्तन से अलग करती है। ये विशेषतायें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक कारणों से प्रभावित थी। प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.धर्म एवं राजनीति का सांमजस्यः- प्राचीन भारत में राजनीति तथा उसके सिद्धान्तों का विकास धर्म के एक सिद्धान्त के रूप में हुआ था। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म को राजनीति के साथ जोड़कर देखा गया। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म से राजनीति को जोड़कर देखा गया। राजा से भी धर्म के पालन की आशा की जाती है। वह हर प्रकार के धार्मिक परम्पराओं, रीतियों से बंधा हुआ है। राजा से आशा की जाती है कि वह शासन भी धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर करे। राजनीति में धर्म एवं नैतिकता सदैव समावेश रहा है। भारत में प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ ही राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माने जाते है। इनमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

2.आध्यात्मिकता पर बलः- प्राचीन भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्याधिक रहा है। भारत को आध्यात्मिक गुण भी कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से प्रेरित है। यहां पर जीवन शैली ही आध्यात्मिक रही है। कतिपय यही कारण है कि यहां राजनीति का रंग भी आध्यात्मिक है। भारत में राजनीति में आत्मा का विकास एवं मानव के सर्वागींण विकास

पर बल दिया गया है। भारतीय चिन्तन में माना गया कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है। जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

3.राज्य आवश्यक संस्था हैः-प्राचीन भारतीय चिन्तन की यह प्रमुख विशेषता है कि राज्य को आवश्यक संस्था मानती है। जीवन के तीन लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक और अनुपयोगी मानते हैं, व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत भारतीय चिन्तन ने राज्य को अति आवश्यक माना जाता है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है वरन् आत्मा का विकास करने का भी माध्यम है।

4.राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन आदर्शवादी तो है परन्तु इसमें कही भी व्यक्तिवाद की झलक नहीं मिलती है। भारतीय चिन्तन में राजा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य न केवल व्यक्तियों की रक्षा करेगा वरन् उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। राज्य इसके बाद नैतिकता के मार्ग पर प्रेरित कर अंतिम लक्ष्य (आत्मा का विकास) को प्राप्ति के लिये वातावरण उपलब्ध करायेगा।

5.राजा की सर्वोच्च सत्ता पर बलः-भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राजा सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता है। वह किसी के प्रति जबावदेह नहीं है। अनेक विद्वानों ने राजा को दैवीय माना है। उसमें दैवीय गुणों का समावेश किया है। कौटिल्य ने राजा और राज्य के बीच कोई अंतर नहीं किया है। राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। परन्तु उसे निरंकुश नहीं किया गया है।

6.दण्ड पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन यह मानता है कि मानव में आसुरी शक्तियों की प्रधानता होती है। अतः उनको नियन्त्रित करने के लिये दण्ड की आवश्यकता होती है। भारतीय चिन्तन में कठोर दण्ड का प्रावधान है जिससे समाज संदेश जाय और अन्य लोग कानून तोड़ने से बचे। प्राचीन विद्वानों ने इसे दण्ड नीति के नाम से पुकारा है। मनु, कौटिल्य सभी ने दण्ड पर बल दिया।

7.व्यवहारवादी दृष्टिकोणः- भारतीय चिन्तन आदर्शवादी न होकर व्यवहारिक है। भारतीय चिन्तन में यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू की तरह कल्पना का अभाव है। ए0के0 सेन के शब्दों में - ‘‘हिन्दू राजनीतिक चिन्तन उत्कृष्ठ वास्तविकताओं से भरा हुआ है। कुछ राजनीतिक अपवादों को छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारों का संबंध राज्य के सिद्धान्त एवं दर्शन से उतना नहीं जितना राज्य की समस्याओं से है।

8.विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बलः- भारतीय प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं का केन्द्र संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का व्यापक वर्णन किया

गया है। समस्त अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया है।

9.सामाजिक व्यवस्था का प्रभावः- प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था वहां की सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक में हो रहा परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की देन होता है। भारत के चिन्तन में ऐसा देखा गया है कि यहां पर भी सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर है।

10.राजा के व्यापक कार्यों का वर्णनः- प्राचीन भारतीय चिन्तन में प्रायः विद्वानों ने राजा के कार्यों का व्यापक वर्णन किया है। इन रचनाओं का अधिकांश हिस्सा राजपद की योग्यता, महत्व एवं कार्यों के वर्णन में है। राजा का परम कर्तव्य क्या है? उसे किस प्रकार इसका पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं पर न केवल विचार हुआ वरन उसका समाधान भी प्रस्तुत किया गया। यह उस समय हो रहा था जब पश्चिम में व्यवस्थित अध्ययन भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। भारतीय चिन्तन यर्थातवादी, संस्थावादी तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर बल देता है।

मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वानों इसे पांच हजार वर्ष से भी प्राचीन मानते हैं। यह दुनिया की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। यद्यपि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने झूठ का एक ऐसा आवरण डाला जिसमें यह सिद्ध किया गया कि भारत में प्राचीन चिन्तन था ही नहीं। जो कुछ भी था वह पाश्चात्य चिन्तन के सामने ठहरता ही नहीं। नये शोधों, पुरातत्व विभाग की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अति प्राचीन काल से ही राजनैतिक चिन्तन न केवल अस्तित्व में है वरन् उसका स्तर भी काफी अच्छा है।

राजनैतिक चिन्तन के द्वारा किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था का न केवल ज्ञान होता है वरन् उसमें सुधार की संभावना भी बनी रहती है। राजनैतिक चिन्तन से विश्व की घटनाओं को समझने की समझ उत्पन्न होती है। साथ ही अन्य देशों में उससे प्रेरणा लेकर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उदाहरण के लिये रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही चिन्तन से नई शब्दालियों , परिभाषाओं का भी ज्ञान होता है।

जहां तक राजनैतिक चिन्तन के स्त्रोत का प्रश्न है तो यह दो स्तरों पर पाया जाता है। इसका पहला स्त्रोत देशी है तथा दूसरा स्त्रोत विदेशी है। देशी स्त्रोत में भारतीय विद्वानों की रचनायें, ग्रन्थ, महाकाव्य आदि है। इसमें मुख्य रूप से वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न काल खण्डों में रचित विभिन्न रचनायें आती हैं। यह सभी भारतीय चिन्तन की दिशा को स्पष्ट करती है। इसके

अतिरिक्त विदेशी स्त्रोत भी है। जिनमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा समय-समय पर लिखी गई रचनायें आती हैं। इसमें मुख्य रूप से यूनानी विचारकों, चीनी विचारकों की रचनाओं का योगदान है। इसके अतिरिक्त शिलालेख, मुद्राओं, स्तूप आदि पर लिखी गई रचनाओं का अपना योगदान है। भारतीय चिन्तन मूल रूप से यर्थात पर आधारित है। इसमें आध्यात्मिकता के तत्व दिखाई पड़ते है। भारतीय चिन्तन में राजनीति से धर्म को अलग नहीं देखा जाता है। इन दोनों को साथ ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय चिन्तन में राजा तथा राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक स्वीकार किया गया है। इसमें सदैव संस्थाओं को महत्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक चिन्तन न केवल प्राचीनतम है वरन् यह व्यवहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का आइना सदृश्य दिखता है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप भी बदलता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन ने केवल प्राचीन वरन् अत्यन्त उच्च कोटि का है। यह तत्कालीन समाज से न केवल प्रभावित है वरन् आगे आने वाले समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

स्व-मूल्यांकन हेतु प्रश्नः-

1. प्राचीन भारतीय चिन्तन उच्च कोटि का है। सत्य/असत्य
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाश्यात्य चिन्तन से प्राचीन है। सत्य/असत्य
3. प्लेटो और अरस्तू कहां के विचारक थे?
4. कौटिल्य की रचना का क्या नाम था?
5. फ्रांस की क्रान्ति पर सर्वाधिक प्रभाव किस विचारक का था?
6. राजनीतिक चिन्तन का .....के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।
7. प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत क्या है?
8. प्राचीन भारतीय चिन्तन के विदेशी स्त्रोत कौन से है?
9. अश्वघोष की रचना का क्या नाम है?
10. पाणिनी की रचना का क्या नाम है?

1.5 सारांश

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के

विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है। भारतीय चिन्तन के केन्द्र में मानव है। जबकि पाश्चात्य चिन्तन के केन्द्र में मानव नहीं है। इसके बावजूद मैक्समूलर , डनिंग जैसे पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अव्यावहारिक व अनुपुयुक्त माना । उक्त आलोचनायें उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन अनवरत मानव उपयोगी रहा है।

भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत रहें है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन रचनायें जैसे वेद,पुराण,धर्मसूत्र,उपनिषद, महाकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विदेशी विद्वानों के विवरण ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कालखण्डों में आई विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, एवं शुक्रनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय चिन्तन शिलालेखों, स्तंभलेखों , गुफालेखों, एवमं ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता है। भारतीय चिन्तन धर्म एवमं एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की पवित्रता पर बल है। इसमें आध्यात्मिकता पर झुकाव है। इसके साथ ही भारतीय चिन्तन में राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय चिन्तन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें कठोर दण्ड की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन में राजा के कार्यक्षेत्र को व्यापक माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन एकपक्षीय पुरातनपंथी एवं अधूरा नहीं है वरन यह पूर्णत व्यावहारिक एवमं आधुनिक है।

1.6 शब्दावली

पाश्चात्य- पश्चिमी भूभाग अथवा पश्चिम के देश जैसे यूनान, इंग्लैण्ड, फ्रांस

औपनिवेशिक कालः- भारत में बिटिश शासन के समय को औपनिवेशिक काल कहा जाता है।
पूर्वाग्रहः- पहले से निर्णय लेकर (तय करके) कार्य करना ही पूर्वाग्रह कहलाता है।

आदर्शवादः- अच्छी स्थिति , आदर्श स्थिति की कल्पना करना तथा जो लागू करने में मुश्किल हो आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. यूनान, 4. अर्थशास्त्र 5. रूसो 6. यर्थातवाद 7. वेद, पुराण, शिलालेख, स्तूप, ग्रन्थ,

8. स्काइलेक्स, मेगस्थनीज, हवेनसांग, फाहयान , 9. बुद्धचरित, 10. अष्टध्यायी

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या

2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र

3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें

4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया

2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक चिन्तन से क्या आशय है? भारतीय प्राचीन चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत बताइए।

2. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

3. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन क्या है? यह किस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन से भिन्न है, स्पष्ट कीजिये।

4. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के महत्व पर एक निबन्ध लिखिये।

5. राजनीतिक चिन्तन से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिये।

6. प्राचीन राजनीतिक चिन्तन के विकास पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 2 : मनु

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 सामान्य परिचय
2.3.1 राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
2.3.2 राजा संबंधी विचार
2.3.3 शासन संबंधी विचार
2.3.4 प्रादेशिक शासन संबंधी विचार
2.3.5 विधायिका संबंधी विचार
2.3.6 कानून, न्याय एवं दण्ड संबंधी विचार
2.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार
2.3.8 विदेश नीति: मण्डल सिद्धान्त, षाड़गुण्य नीति
2.4 मनु एवं कौटिल्य: एक तुलना
2.5 मूल्यांकन
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में हमने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के बारे में अध्ययन किया है |जिसमें यह यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है।

इस इकाई में हम मनु के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार तथा राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |यही नहीं इसके आगे हम मनु के विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए विदेश नीतिका भी अध्ययन करेंगे |अंततः हम मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे |

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मनु के -

1.राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार का अध्ययन कर सकेंगे |

2. राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |

3.विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन

4.विदेश नीति का भी अध्ययन करेंगे |

5.मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे |

2.3 सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन मनु का माना जाता है। उन्होंने अपनी रचना ''मनुस्मृति'' में राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। विभिन्न विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म विषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा प्रारम्भ किया गया। ''मनु स्मृति'' को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में मनु स्मृति का सर्वाधिक महत्व है।

''मनु स्मृति'' के रचना काल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैव्य नहीं है। महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का उल्लेख आता है। डा0 वी0सी0 सरकार ''मनुस्मृति'' को ईसा से 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। मैक्स मूलर इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। डा0 हण्टर इसे ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानते हैं। कुछ विद्वान इसे रामायण एवं महाभारत काल की रचना मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान रेनेगिनो मनु शब्द को ऐतिहासिकता से जोड़ने के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि मनु की उत्पत्ति मूलधातु मन से हुई है जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन और सार्वभौम बुद्धि तथा विचार। मन धातु से ही मनु तथा मानव की उत्पत्ति हुई है। रेनेगिनो का मत है कि जिस प्रकार वेद की रचना का काल निर्धारित नहीं है उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति के संबंध में प्रयास भी निरर्थक है। स्मृतिया एक लम्बे काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनु स्मृति का ज्ञान मनु से नारद, नारद से मार्कण्डेय, मार्कण्डेय से समुति भार्गव, समुति भार्गव से भृगु ऋषि को प्राप्त हुआ। भृगु ऋषि के द्वारा ही मनुस्मृति का संकलन हुआ।

इसके रचना काल के संदर्भ में मतभेद अवश्य है परन्तु एक विधि ग्रन्थ, नियामक ग्रन्थ के रूप में इसकी मान्यता पर सर्वसम्मति है। भारत में गौतम एवं वृहस्पति ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया। जर्मन विद्वान ने तो एक स्थान पर पर लिखा है कि ''मनु स्मृति बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।'' मैकेन्जी ब्राउन के शब्दों में '' यह हिन्दू कानून का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।''

''मनु स्मृति'' की विषय वस्तुः- मनु स्मृति में कुल 12 अध्याय है। ''मनु स्मृति'' का अध्यायवार विवरण इस प्रकार है-

1.प्रथम अध्यायः- जगत की उत्पति, भू लोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पति, चार वर्ग उत्पति, स्त्री पुरूष उत्पति आदि। कुल 111 से 119 श्लोक तथा संक्षिप्त स्मृति सूची पायी जाती है।

2.द्वितीय अध्यायः- धर्मोपदेश, श्रृति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार , माता-पिता, चारों आश्रम का वर्णन है।

3.तृतीय अध्यायः- ब्रहाचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन है।

4.चर्तुथ अध्यायः- मनुष्य के नित्यकर्मों का वर्णन है, करने तथा न करने योग्य कार्यों का वर्णन।

5.पंचम अध्यायः- स्त्री संबंधी व्याख्या, अन्य शिक्षाओं का उल्लेख है।

6.षष्टम अध्यायः- वानप्रस्थ की अवस्था, वानप्रस्थ की महिमा, सन्यास आश्रम आदि का वर्णन।

7.सप्तम अध्यायः- राज व्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पति, दण्ड की उत्पति, कर तथा सेना संबंधी नियमों का उल्लेख है।

8.अष्टम अध्यायः- दण्ड के नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिये दिये जाने वाले दण्डों का विवरण है।

9.नवम्, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायः- वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, प्रकार वर्ण संस्कारों की उत्पति आदि का वर्णन है।

10.बारहवें अध्यायः- मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यों के गुण-दोष पाखण्ड, गुण-दोष आदि का वर्णन है।

2.3.1 राज्य की उत्पति विचार

"मनु स्मृति" के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में राज्य की उत्पति एवं साव्यवी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। मनु ने राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी है। इसमें कई जगह सामाजिक अनुंबध सिद्धान्त का भी आभास दिखता है।

मनु स्पष्ट करता है कि राज्य के पूर्व मानव की स्थिति, कष्टपूर्ण, असहनीय थी। इस कष्ट के निवारण के लिये ईश्वर इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, कुबेर, यम आदि ने सारभूत अंश से राजा का निर्माण किया । इन आठ उत्कृष्ट तत्वों से मिलकर राजा ने न केवल मानव दुखों को दूर किया वरन् उनके कल्याण को सुनिश्चित किया। इन आठ तत्वों से बना राजा विश्व रक्षक, पोषक, समृद्धिकारक होता है। निश्चित रूप से मनु राज्य की उत्पति के दैवीय सिद्धान्त का पोषक है परन्तु उसके इस सिद्धान्त में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की झलक भी दिखती है। राजा सर्वोच्च है, वह ही सभी के कल्याण का माध्यम है। "मनुस्मृति" में राजा का यह दायित्व है कि वह इस भूमि पर सभी दिशाओं में शंति और व्यवस्था कायम रखे।

मनु का दैवीय उत्पति का सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त में अंतरः- प्रायः मनु के दैवीय उत्पति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त से की जाती है। इन दोनों में काफी अंतर दिखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पति के सिद्धान्त के द्वारा राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है।

मनु राजा को निरंकुश सत्ता का पक्षधर नहीं है। मनु ने राजा को धर्म, नैतिकता के अधीन रखा है। उसने इस बात पर बल दिया है कि राजा सदा प्रजा का पालन करे तथा उसकी रक्षा करे। राजा को देव का अंश बताया गया परन्तु इसमें उसके गुणों पर योग्यता पर बल दिया गया है न कि उसके

अधिकार, शक्तियों एवं मनमानी पर है। यहां पर मोरबानी का कथन प्रासंगिक लगता है कि - ''राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता है। धर्म राजाओं एवं मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।

सालेटोर के शब्दों में-'' मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है। यदि एवं अपनी मूर्खता से जनता को सताता है।''

मनु ने स्पष्ट किया है कि राजा सभी नियमों एवं कानूनों से बंधा है। वह विशिष्ट है परन्तु साधारण मनुष्यों की तरह दण्ड भोगता है। उसका कहना है कि यदि किसी अपराध में दण्ड एक पण है तो राजा के भंग करने पर उसे सौ पण दण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि राजा अधिक विद्वान एवं योग्य है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण, दिनचर्या उसे निरंकुशता की ओर नहीं जाने देते हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि दैवीय उत्पति सिद्धान्त अपनाये जाने के बावजूद भी मनु का राजा निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी नहीं है। उसके ऊपर कानून, नैतिकता एवं मर्यादा का नियन्त्रण है।

5.3.2 राजा संबंधी विचार

मनु ने राजा को अनेक राजाओं के सारभूत अंश से निर्मित बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न है अतः उसका अपमान नहीं हो सकता है। राजा से द्वेष करने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की ओर ले जाना। "मनु स्मृति" में तो यहां तक लिखा है कि राजा में अनेक देवता प्रवेश करते हैं। अतः वह स्वयं एक देवता बन जाता है। "मनु स्मृति" के अनुसार-''ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान एश्वर्यकर्त्ता, पवन के समान सबके प्राणावत, प्रिय तथा हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरूण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरूषों को आनन्द देने वाला तथा कुबेर के समान कोष भरने वाला होना चाहिए।''

मनु ने राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि राजा को प्रजा तथा ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील रहना चाहिए। राजा को अपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसे काम, क्रोध आदि से मुक्त रहना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि उसे शिकार, जुआ, दिवाशयन, परनिन्दा, परस्त्री प्रेम, मद्यपान, नाच-गाना, चुगलखोरी, ईर्ष्या, परछिद्रान्वेषण, कटुवचन,धन का अपहरण आदि से बचना चाहिए। मनु स्मृति में राजा के लिये मुख्य निर्देश निम्न हैं-

1.वह शस्त्र धन, धान्य, सेना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दुर्ग में हर प्रकार से सुरक्षित निवास करे ताकि वह शत्रुओं से बच सके।

2.राजा स्वजातीय और सर्वगुण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे।

3.राजा समय-समय पर यज्ञ का आयोजन करे और ब्राह्मणों को दान करे।

4.प्रजा से कर वसूली ईमानदार एवं योग्य कर्मचारियों के द्वारा किया जाना चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता-पुत्र की तरह होना चाहिए।

5.राजा को युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिए। युद्ध में मृत्यु से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

6.विभिन्न राजकीय कार्यों के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाय।

7.राजा को विस्तारवादी नीति को अपनाना चाहिए।

8.अपने सैन्य बल एवं बहादुरी का सदैव प्रदर्शन करना चाहिए।

9.गोपनीय बातों का गोपनीय बनाकर रखना चाहिए। शत्रुओं की योजनाओं को समझने के लिये मजबूत गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए।

10.अपने मंत्रियों को सदैव विश्वास में रखना चाहिए।

11.राजा सदैव सर्तक रहे। अविश्वसनीय पर बिल्कुल विश्वास न करे और विश्वसनीय पर पैनी निगाह रखे।

12.राजा को राज्य की रक्षा तथा शत्रु के विनाश के लिये तत्पर रहना चाहिए।

13.राजा को अपने कर्मचारियों, अधिकारियों के आचरण की जांच करते रहना चाहिए। गलत पाने पर उनको पदच्युत कर देना चाहिए।

14.राजा को मृदुभाषी होना चाहिए।

मनु ने राजा की दिनचर्या का भी वर्णन किया है। उसने सम्पूर्ण दिन को तीन भागों में बांटकर प्रत्येक के लिये अलग-अलग कार्य निर्धारित किये हैं। राजा को स्नान एवं ध्यान के बाद ही न्याय का कार्य करना चाहिए। राजकार्यों के संबंध मे अपने मंत्रियों के साथ तथा विदेश मामलों में अपने गुप्तचरों एवं राजदूतों के साथ परामर्श नियमित रूप से करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में राजा के गतिशील जीवन की चर्चा की गई है। इसमें राजा को सदैव सजग और सावधान रहने की आशा की जाती है।

युद्ध एवं संकट के समय राजा के कार्यः- मनु स्मृति में युद्ध के समय राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि युद्ध के समय राजा को भयभीत नहीं होना चाहिए और पूरी तैयारी और मनोबल के साथ शत्रु का संहार करना चाहिए। यह राजा का धर्म है कि वह शत्रु का

संहार कर मातृभूमि की रक्षा करें। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि शांति के समय प्रजा के धान्य का छठा-आठवां भाग प्राप्त करे परन्तु युद्ध के समय वह चौथा भाग भी प्राप्त कर सकता है। आपातकाल में राजा द्वारा अतिरिक्त कर लेना कोई पाप नहीं है।

2.3.3 शासन संबंधी विचार

मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से (मंत्रियों) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि राजा को सदैव लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, जो प्राप्त हो गया है उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। राजकोष को भरने का सदैव प्रयास करना चाहिए। समाज के कमजोर एवं सुपात्र लोगों को दान करना चाहिए। राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत वर्ताव करना चाहिए तथा राष्ट्रहित में कठोर भी हो जाना चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धान्तप्रिय तथा मातृभूमि से प्रेम करने वाला होना चाहिए।

राजा को राजकार्य में सहायता देने के लिए मंत्रीयों की व्यवस्था है। ''मनु स्मृति'' में ''मंत्री'' शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु सचिव शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। मनु स्मृति में कहा गया है कि अकेले आदमी से सरल काम भी मुश्किल हो जाता है। अतः शासन के जटिल कार्यों के लिये मंत्री नियुक्त किये जाने चाहिए। वे विद्वान, कर्तव्यपरायण, शास्त्रज्ञाता, कुलीन तथा अनुभवी होने चाहिए।

वह शासन कार्य में एकांत में तथा अलग-अलग तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त मत्रंणा करनी चाहिए। मंत्रियों को उनकी योग्यतानुसार कार्य सौंपना चाहिए। यहां पर मनु स्पष्ट करता है -''सूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त विभाग, शुचि आचरण से युक्त व्यक्ति को रत्न एवं खनिज विभाग, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध तथा चतुर कुलीन व्यक्ति को संधि विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए। मंत्रिपरिषद के अमात्य नामक व्यक्ति का दण्ड विभाग, सेना विभाग तथा राजा को राष्ट्र एवं कोष अपने अधीन रखना चाहिए। इनमें से वह ब्राह्मणों को विशेष महत्व देने पर बल देता है। उसका मत है कि -'' इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है।'' मनु की मान्यता है कि मत्रंणा अत्यन्त गोपनीय होनी चाहिए। वह इसके लिए मध्याह्न अथवा आधी रात को इसके लिये उपयुक्त मानता है। ''मनु स्मृति'' से यह भी पता चलता है कि उस समय मंत्रीयों का राजा के प्रति उत्तरदायित्व, मत्रंणा की गोपनीयता मिलकर निर्णय लेने की भावना तथा मंत्रीयों में विभागों के बंटवारे की व्यवस्था विकसित हो गई थी। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिये वह योग्य, अनुभवी तथा ईमानदार कर्मचारी की नियुक्ति का पक्षधर है। भ्रष्ट अधिकारियों पर पैनी निगाह रखते हुए उनके विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने चाहिए। कर्मचारियों एवं महत्वपूर्ण पदाधिकारियों पर नजर रखने के लिये गुप्तचर व्यवस्था को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। राजदूत के संबंध में मनु ने स्पष्ट किया है कि निर्भीक प्रकृति के, सुवक्ता,देश काल

पहचानने वाले, हृदय एवं मनोभाव को पहचानने वाले, विविध लिपियों के ज्ञाता तथा विश्वासपात्र को राजदूत बनाया जाना चाहिए।

2.3.4 प्रादेशिक प्रशासन संबंधी विचार

मनु ने प्रशसनिक व्यवस्था संबंधी निर्देश अपनी पुस्तक ''मनु स्मृति'' में दिये है। मनु का स्पष्ट मत है कि राजा दो, तीन, पांच और सौ गांवों के बीच अपना राज स्थान स्थापित करें तथा यहां शन्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये योग्य कर्मचारी नियुक्त करे। ''मनु स्मृति'' में राज्य को क्षेत्रीय आधार पर पुर तथा राष्ट्र को विभाजित किया गया है। पुर या दुर्ग से आशय राजधानी से है जो चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से पूर्ण तथा स्वस्थ भू-भाग में बसाई जानी चाहिए। शासन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये राष्ट्र को छोटी-बड़ी बस्तियों में विभाजित करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' मे स्पष्ट रूप से एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम तथा एक हजार ग्रामों की अलग-अलग संगठनों की व्यवथा है। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई है इसके अधिकारी को ग्रामिक कहा जाता है। मनु के अनुसार ग्रामिक का मुख्य कार्य शन्ति और व्यवस्था बनाये रखना है। इसको ही राजस्व एकत्र कर 10 ग्रामों के अधिकारी के पास भेजना है। 10 ग्रामों के अधिकारी को दशग्रामपति कहा जाता है। बीस ग्राम के अधिकारी को विशंती, सौ ग्रामों के अधिकारी को शती, तथा एक हजार ग्रामों के पति को सहस्त्रपति कहा गया है। इन सभी अधिकारियों के कार्यों के निरीक्षण उच्च अधिकारी करता है। प्रत्येक अधिकारी के वेतन का भी उल्लेख मनु स्मृति में मिलता है। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों के प्रशासन की भी व्यवस्था की गई है। नगर अधिकारी को स्वार्थ चिन्तक नाम दिया गया है।

2.3.5 विधायिका (परिषद)

मनु ने कार्यपालिका के साथ ही विधायिका अथवा परिषद का उल्लेख किया है। परिषद का अर्थ विधायिका से लिया जाता है। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि परिषद में तीन से दस तक सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों में से तीन वेदों के जानकार होने चाहिए। वेदों की जानकारी के साथ राष्ट्रीय नीतियों को क्रियान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यहां पर मोरवानी का कथन महत्वपूर्ण है- ''परिषद ऐसे विद्वान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होने वेदों, टीकाओं का अध्ययन किया हो जो अपने तर्कों के संबंध में प्रमाण देने में सक्षम हो।''

मनु स्मृति में कुल, जाति, श्रेणी और जनपद नामक जनता की संघीय संस्था का भी उल्लेख किया। इसमें यह भी बताया गया है कि इन संस्थाओं द्वारा बनाये गये नियमों को वह स्वीकृति प्रदान करे।

2.3.6 कानून-न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

मनु स्मृति में सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया गया है। न्याय ही दण्ड का आधार है। मनु का यह मानना था कि दण्ड के भय के कारण ही लोग स्थिर रहते है। मनु का कहना है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह देश, काल, अपराध की गुणता आदि पर विचार करके ही अपराधियों को दण्ड देना चाहिए। मनु का मानना है कि राजा दण्ड के भय से ही शासन करता है। यदि राजा

अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगेगें जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाया जाता है। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करें। राजा को सदैव तत्पर रहते हुए कुल, जाति, गण और जनपद में जो भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा उन्हें यथोचित दण्ड की व्यवस्था करता है। मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताये है-

1. घिग्दण्ड
2. वाग्दण्ड
3. धनदण्ड
4. वधदण्ड

मनु ने दण्ड की महत्ता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसकी मान्यता है कि दण्ड के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता है। मनु दण्ड को सामाजिक जीवन का आधार मानता है। वह दण्ड के महत्व को निम्न तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है-

1.दण्ड सभी मनुष्यों का रक्षक होता है। यही कारण है कि सभी उसका पालन करते है।

2.यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान होता है।

3.दण्ड की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की रक्षा एवं देखभाल करता है।

4.दण्ड राज्य की संपति की रक्षा तथा वृद्धि के लिये अनिवार्य है।

दण्ड के संबंध में मनु स्पष्ट करता है कि यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान तत्व है। अतः दण्ड देने वाला व्यक्ति राज्य में सर्वोच्च होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्त दण्ड संबंधी विचार को ही सम्प्रभुता का आधार कहा जाता है।

कानून अथवा विधि संबंधी विचार

मनु ने कानून निर्माणके लिये परिषद अथवा विधायिका का उल्लेख किया है। परिषद के सन्दर्भ में उसका स्पष्ट मत है कि इसका निर्धारण बौद्धिक क्षमता से होना चाहिए न कि संख्या के आधार पर। उसने स्पष्ट किया है कि इसके दस सदस्यों में तीन वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक भीमांसाकर, एक निसक्त, एक धर्म शास्त्र का कहने वाला तथा तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के होने चाहिए। मनु यह भी स्पष्ट करता है कि यदि ऐसे दस व्यक्ति न मिले तो योग्य वेदों के जानकार तीन व्यक्ति ही काफी है।

न्याय संबंधी विचार

मनु स्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया जाता है। मनु के अनुसार सामान्यतः दो प्रकार के विवाद होते हैं - हिंसा के कारण उत्पन्न विवाद तथा धन संबंधी विवाद। मनु का मानना है कि राजा को स्वंय विवादों का समाधान करना चाहिए। यदि वह स्वंय न कर पाये तो योग्य ब्राह्मण

को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मण भी ऐसे तीन अन्य व्यक्तियों के साथ न्यायालय में न्याय करना चाहिए। मनु अपेक्षा करता है कि सभी विवादों का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता से करना चाहिए। यदि सत्य असत्य से पराजित होती है तो उसके सदस्य भी पाप से नष्ट हो जाते है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि न्यायधीश वेदों का जानकार ब्राह्मण व्यक्ति को ही होना चाहिए। शूद्रों को यह महत्वपूर्ण दायित्व नहीं देना चाहिए। न्यायधीशों को शारीरिक भाषा, मुख संकेत तथा मनोविज्ञान समझने की क्षमता रखनी चाहिए। जहां पर निर्णय हो उस स्थान का सभा कहा जाता है। सभा के न्यायधीश को सत्य की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए। सत्यता की जांच करने के लिये लिखित युक्ति तथा साक्षी आदि का परीक्षण करना चाहिए। मनु ने प्रमाणों को भी दो भागों में बांटा है-

1. मानुष प्रमाण
2. दिव्य प्रमाण

मानुष प्रमाणः- मनु ने मानुष प्रमाण को तीन भागों में बांटा है। ये मुख्य रूप से लिखित, युक्ति तथा साक्षी होते है। मनु आगे स्पष्ट करते है कि लिखित प्रमाणों को सर्वाधिक महत्व होता है। इसमें भी यह देखना चाहिए कि बलपूर्वक तो कोई लिखित प्रमाण तैयार नहीं कराया गया है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि झूठ बोलने वाले, सेवक, शत्रु, सन्यासी, कोढ़ी के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। साक्ष्य से पूर्व शपथ का विधान रखना चाहिए। मिथ्या साक्ष्य देने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए। स्त्री के लिये स्त्री साक्षी को स्वीकार करना चाहिए। गवाह के रूप में ब्राह्मण गवाह को विशेष महत्व देना चाहिए। युक्ति प्रमाण के संबंध में मनु कहता है कि यदि किसी व्यक्ति की किसी चीज को कोई 10 वर्ष से अधिक समय से भोग कर रहा है तो वह वस्तु उसी की हो जायेगी। इस संबंध में यह जरूर कहता है कि संबंधित मामला बालक तथा पागल का नहीं होना चाहिए।

दिव्य प्रमाणः- दिव्य प्रमाण में शपथ लेने, जल में डूबना, जलती अग्नि को ग्रहण करना आदि सम्मिलित किये गये है। यह प्रमाण तभी प्रासंगिक होते है जब मानुष प्रमाण विफल हो जाते है। मनु में न्यायिक पुनरावलोकन के तत्व भी मिलते है। वह यह स्पष्ट करते है कि यदि राजा को लगे कि न्याय गलत हो गया है तो वह विवाद का पुनः अवलोकन कर सकता है।

2.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार

करारोपण के संबंध में भी मनुस्मृति में व्यापक व्यवस्था की गई है। मनु भी प्रजा के साथ पुत्रवत संबंध रखने का हिमायती था। उसकी मान्यता थी कि प्रजा से थोड़ा-2 कर ही लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कर न लेने से राजकोष खाली होता है और राज्य कमजोर होता है वही अत्याधिक, दमनकारी कर नीति से प्रजा की जड़ तथा विश्वास घटता है। कर का निर्धारण सदैव न्यायपूर्ण होना चाहिए। वह कहता है कि कर लगाने का उद्देश्य विलासिता नहीं वरन् जनकल्याण होना चाहिए।

मनु स्मृति में कर की मात्रा का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार पशु एवं स्वर्ण का 50 वां भाग, धान्य का छठां भाग, आठवा और बारहवां भाग लेना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि अत्याधिक वृद्ध, लंगड़े तथा अंधों से कर नहीं लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कारीगरों, श्रमिकों, बोझा ढोने वालों से एक महीने में एक दिन का काम लेना चाहिए। प्रजा से कर के रूप में ली जाने वाली सामग्री को उसने बलि कहा। व्यापारियों से लिया जाने वाला कर शुल्क कहलाया। किसी व्यक्ति से लिया गया आर्थिक दण्ड अथवा जुर्माना दण्ड कहलाया। उसने इसके अतिरिक्त संतरण कर, पशुकर, आयकर का भी उल्लेख किया है।

2.3.8 विदेश नीति संबंधी विचार

मनु ने विदेश नीति संबंधी दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.मण्डल सिद्धान्तः- मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए। उसे सदैव अपनी सीमाओं के विस्तार के संबंध में सोचना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजा को सदैव मण्डल सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनु के मण्डल सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु ''विजीगीषु राजा'' होता है।

मनु ने राज्य मण्डल की चार मूल प्रकृतियां बतायी है। जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु तथा उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो वह राजा मध्यम है। जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के मध्य एकमत होने पर अनुग्रह करने तथा विरोध करने पर निग्रह करने में समर्थ हो तो वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा तीन प्रकार के होते है- सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु , राज्य की भूमि के पार्श्ववर्ती शत्रु।

मनु स्पष्ट करता है कि विजिगीषु राजा का चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड, भेद से उनको अपने वश में करे। राजा को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि वह शत्रुओं की कमियों को पता कर अपनी तैयारी करे। साथ ही वह सम्पूर्ण तैयारी को गोपनीय बनाकर रखने पर बल देता है।

2.षाड़गुण्य नीतिः- मनु की यह मान्यता है कि राजा को छः नीतियों का पालन करते हुए न केवल अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए वरन् सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिएं वह साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा राष्ट्रहित में वृद्धि पर बल देता है। इसके लिये उसे निम्न छः नीतियों को अपनाना चाहिए-

1. संधि
2. विग्रह
3. यान
4. आसन
5. द्वैधीभाव

6. सश्रंय

इन छः नीतियों का पालन मौके, परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। राजा को ऐसे सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए जिससे शत्रु मध्यम तथा उदासीन राजाओं की संख्या न बढ़ सके। इनकी संख्या बढ़ने से मित्र के शत्रु होने तथा पराधीन होने की संभावना बढ़ जाती है।

मनु की मान्यता है कि शंतिकाल में राजा को राजदूत के माध्यम से संबंध संचालन एवं मित्रता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। राजदूत के ऊपर ही दो राज्यों के बीच अच्छे संबंध बनाने की जिम्मेदारी होती है। अतः राजदूत की नियुक्ति में योग्यता, शास्त्रों का ज्ञान, वाकपटुता तथा देश प्रेम जैसे गुणों पर ध्यान देना चाहिए। मनु के शब्दों में - ''राजा को साम, दाम, दण्ड, भेद का नीति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए। इस कार्य के लिये युद्ध को अंतिम विकल्प के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए।

मनु का षाड़गुण्य नीति का प्रावधान आपातकाल के लिये किया गया है। सामान्य काल में राजा से अपेक्षा है कि वह कूटनीति के द्वारा हित संवर्धन करे। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि विजेता राजा द्वारा पराजित राजा के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए। विजेता राजा के द्वारा पराजित लोगों के रीति-रिवाज, मर्यादाओं, परम्पराओं का सम्मान किया जाना चाहिए। किसी योग्य व्यक्ति को वहां का राजा नियुक्त कर देना चाहिए। उससे संधि कर उसको मित्र बना लेना चाहिए।

2.4 मनु और कौटिल्य के बीच तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक थे। उनके विचारों में अनेक बिन्दुओं पर समानता तथा अनेक बिन्दुओं पर असमानता दिखायी पड़ती है। दोनों ही विद्वान प्राचीन भारतीय परम्पराओं रीतियों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। दोनों ही ब्राह्मणों को ऊंचा स्थान एवं कम सजा का प्रावधान की व्यवस्था करते है। कौटिल्य सृष्टि के सृजन के सम्बन्ध में स्पष्ट मत नहीं रखता परन्तु मनु का मत है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की उत्पति उनकी भुजाओं से, वैश्यों की उत्पति उनके पेट से हुई है। दोनों मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष मानते है। दोनों ही दण्ड नीति को स्वीकार करते है। मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। राज्य की उत्पति के संबंध में दोनों के विचार समान है। मनु दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को तो मानता है परन्तु उसमें समझौते की झलक मिलती है। कौटिल्य भी उत्पति के संबंध में समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार करता है। दोनों ही सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory), को स्वीकार करते हुए राज्य रूपी शरीर के सात अंश बताये है। इनमें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र प्रमुख हैं। दोनों ही राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन माना है। वे राज्य को सर्व सत्ताधारी बताते है। दोनों की राज्य का समान लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। मंत्रियों की योग्यता के संबंध में दोनों के विचार समान है। कौटिल्य ने राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में व्यापक व्याख्या की परन्तु मनु ने इतनी व्यापक व्याख्या नहीं की। दोनों ने दण्ड व्यवस्था

में ब्राह्मणों को कम दण्ड देने की वकालत की है। कर व्यवस्था पर दोनों के विचार समान है। वे कर जन कल्याण के लिये लगाने पर बल देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों अथवा विदेश नीति के संचालन में दोनों ही षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

2.5 मूल्यांकन

मनु को प्रथम मानव माना जाता है। उनका ग्रन्थ "मनुस्मृति" हिन्दू धर्मशास्त्र की सर्वाधिक प्राचीन रचना मानी जाती है। उन्होंने राज्य, शासन, दण्ड, न्याय, परराष्ट्र नीति पर महत्वपूर्ण विचार दिये। उनका आदर्श राजा प्लेटो के दार्शनिक राजा से अधिक महत्वपूर्ण है। मनु ने राजतंत्र का समर्थन किया परन्तु उसका राजा निरंकुश नहीं है। मनु ने सम्प्रभुता, राजधर्म, प्रशासनिक व्यवस्था, कर व्यवस्था पर महत्वपूर्ण विचार दिये है। राजा पर नियन्त्रण तथा जनकल्याणकारी विचार एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। वह मानवतावादी है। उनके विचारों केन्द्र में मानव है। सामाजिक व्यवस्था को लेकर भी बहुत उत्कृष्ट विचार दिये। वे धर्म, वर्ण व्यवस्था, आश्रम पर महत्वपूर्ण विचार रखते है। वे सभी के विकास एवं कल्याण पर बल देते थे।

मनु के शासन संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण है। वे अराजकता को समाप्त करने तथा व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया। उन्होनें दण्ड एवं न्यायव्यवस्था पर अत्याधिक बल दिया। उनका राज के कार्यों के संबंध में दृष्टिकोण जनकल्याणकारी है। उनका राजा एक आदर्श राजा है। इसके बावजूद वह व्यवहारिक भी है। वह धूर्त एवं निरंकुश नहीं है। मनु द्वारा प्रतिपादित मण्डल सिद्धान्त तथा षाड़गुण्य नीति आज के समय में भी प्रांसगिक है। आज दुनिया के देश विदेश नीति का आधार इन्हीं सिद्धान्तों को बनाते हैं। संधि, विग्रह, यान, युद्ध संबंधी विचार मनु की अमूल्य देन है जो कि उन्हें राजनीति शास्त्रों में अमर कर देता है।

अभ्यास प्रश्न -

1. मनु की रचना का क्या नाम था?
2. मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पति का सिद्धान्त क्या है?
3. मनु किस प्रकार की शासन प्रणाली का समर्थक था?
4. मनु वर्ण व्यवस्था का समर्थक था। सत्य/असत्य
5. मनु द्वारा प्रतिपादित षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त किस से सम्बन्धित है?

2.6 सारांश

मनु प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य विचारक है। उन्होंने अपनी कृति "मनु स्मृति" में राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। मनु ने राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को अपनाया। उनका दैवीय उत्पति का सिद्धान्त में समझौतावादी तत्व मिलते हैं। मनु ने राजतन्त्र का समर्थन किया परन्तु उनका शासक नियन्त्रणविहीन न होकर संयमित है। उसे आशा की जाती है कि वह कानूनों का पालन करे तथा रीतियों एंव परम्पराओं से संयमित है। राज्य के संबंध में मनु राज्य रूपी शरीर की

बात करता है। वह राज्य के सात अंगों का साप्तांग सिद्धान्त देता है। मनु ने इन अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रशासन को मनु ने कई भागों में बांटा है। मनु दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था का भी वर्णन करता है। उसका दण्ड संबंधी सिद्धान्त बहुत व्यवहारिक एवं यर्थातवादी है। न्याय संबंधी विचार बहुत व्यापक है जिसमें न्याय के विभिन्न पहलूओं का व्यापक वर्णन किया गया है। मनु ने विदेश नीति के संचालन में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति को दिया है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों में राजा द्वारा अलग-अलग नीतियां अपनाने पर बल दिया गया है। यह विदेश नीति के निर्धारण का एक व्यवहारिक सिद्धान्त है। यह बदलते विश्व परिदृश्य में बदलती नीति द्वारा राष्ट्रहित के संवर्धन का एक यर्थातवादी समाधान है जो आज के भूमण्डलीकरण के दौर में भी प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त सिद्धान्त बहुत प्रांसगिक है जो मनु को अमर बना देती है।

2.7 शब्दावली

सावयवी सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त में राज्य एक जीवधारी मानते हुए उसके विभिन्न अंगों की कल्पना की जाती है।

दैवीय उत्पतिः- इसके अर्न्तगत राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी जाती है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है।

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मनु स्मृति , 2. दैवीय उत्पति का सिद्धान्त, 3.प्रजातन्त्र, 4. सत्य, 5.विदेश नीति के संचालन से

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2. समस्त्रे आर0, कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा, वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

2.11निबधात्मक प्रश्नः-

1. मनु के राजनैतिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिये।
2. मनु के विदेश नीति संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
3. मनु के राजनैतिक विचारों का वर्तमान में प्रासगिकता स्पष्ट करते हुए एक निबंध लिखिये।
4. मनु के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

इकाई -3 : कौटिल्य

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 राज्य की उत्पत्ति
3.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप
3.3.*3* राजा संबंधी विचार
3.3.4 साप्तांग सिद्धान्त
3.3.4.1 विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व
3.3.5 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार
3.4 प्रशासनिक व्यवस्था
3.5 कानून एवं न्याय संबंधी विचार
3.6 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार
3.7 विदेश नीति संबंधी विचार
3.8 मण्डल सिद्धान्त
3.9 षाड.गुण्य नीति
3.11 कौटिल्य एवं मैकयावेली
3.12 कौटिलय एवं यूनानी विचारक
3.13 सारांश
3.14 शब्दावली
3.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
3.18 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। साधारण ब्राहमण परिवार में जन्म के बावजूद अपनी योग्यता,मेधा,क्षमता तथा साहस से न केवल अपना मुकाम स्थापित किया वरन् अपनी संगठन क्षमता, कूटनीति, शौर्य से नंदवंश का नाश किया। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से नंदवंश के अत्याचार से भारतीय जनमानस को मुक्त कराया साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य को स्थापित करते हुए भारतीय राजनीतिक एकीकरण के द्वारा एक सशक्त राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

विद्वानों का मत था कि कौटिल्य का जन्म 400 ई0 पूर्व तक्षशिला के एक गरीब परिवार में हुआ था। उनको कई नामों से पुकारा जाता था जिसमें विष्णुगुप्त, चाणक्य, कौटिल्य प्रमुख थें। कौटिल्य ने नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा समाप्त होने के साथ वह वहीं प्राध्यापक हो गये। समा्रट महानंद द्वारा सभा में किये गये अपमान ने उसे न केवल झकझोर दिया वरन् उसे सक्रिय राजनीति में धकेल दिया। नन्द बंश के नाश होने के बाद मौर्य वंश की स्थापना हुई। सिकन्दर के जाने के बाद कौटिल्य ने पंजाब के राजाओं से मैत्री कर यूनानियों को देश से निकाल दिया।

भारतीय राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने अपनी कृति ''अर्थशास्त्र'' के द्वारा शासन संचालन , राजा के अधिकार , कर्तव्य का व्यापक चित्रण किया है। उसने प्रजा हित के लिये राजा को कठोर परिश्रम एवं कड़े नियम बनाने की वकालत की। वह प्राचीन भारत का संभवतः पहला विद्वान था जिसने राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन किया। कौटिल्य के द्वारा प्रस्तुत साप्तांग सिद्धान्त ,मण्डल सिद्धान्त तथा षाडगुण्य सिद्धान्त राजनीति शास्त्र को उसकी अमूल्य देन है। उन्होंने अपने ग्रन्थ ''अर्थ शास्त्र'' में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उनके ग्रन्थ में प्रन्द्रह अधिकरण एक सौ अस्सी प्रकरण , एक सौ पचास अध्याय तथा छः हजार श्लोक है। इसमें राजनीति के अतिरिक्त , दर्शन,शिक्षाशास्त्रों, नीति शास्त्र, सैन्य शास्त्र, रसायन शास्त्र , इंजीनियर्रिंग आदि का वर्णन किया गया है।

3.2 उद्देश्य

इकाई के उद्देश्यः- इकाई के निम्न उद्देश्य है-

1.प्राचीन भारतीय चिन्तन के गौरव से विद्यार्थियों को परीचित कराना ।

2.इसके द्वारा हम कौटिल्य के विभिन्न सिद्धान्तों को जानने का प्रयास करेंगें ।

3.कौटिल्य के विचारों के माध्यम से भारत के राजनीतिक एकीकरण में उनके योगदान को जानने का प्रयास करेगें।

4.कौटिल्य के विचारों के अध्ययन से आदर्श राजा के कार्य, उसके अधिकार तथा उस पर स्थापित नियन्त्रण को समझने का प्रयास करेंगे।

5.कौटिल्य के अध्ययन के द्वारा राजनीति के व्यवहारवादी पक्ष (यर्थातवाद) को जानने का प्रयास करेगें।

3.3 राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से मिलते - जुलते विचार दिये है। उनका मानना है कि राज्य से पूर्व समाज में अराजकता, मत्स्य न्याय अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस की तरह की स्थिति थी। इस स्थिति में सभी परेशान थे। अपने जीवन, संपति की रक्षा के लिए लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों ने उपज का 1/6 भाग कर के रूप में देने लगे। व्यापार में 1/10 भाग तथा सोने से होने वाले आय का भी कुछ भाग प्राप्त करने लगे।

कौटिल्य अपनी पुस्तक '' अर्थशास्त्र '' में स्पष्ट करता है कि राजा जनकल्याण में कार्य करेगा तथा लोग कोष में अपना अंश तभी करेंगे जब उनकी सुरक्षा, कल्याण आदि राजा द्वारा सुनिश्चित किया जायेगा। इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति में जन स्वीकृति का विचार दिया है।

कौटिल्य का राज्य की उत्पत्ति का विचार समझौतावादी विचाराकों हाव्स, लाक तथा रूसों से मेल खाता है। उनका मानव भी स्वार्थी, झगड़ालू है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरे को नुकसान पहुँचाने में नहीं हिकचता है। मानव जीवन पर आये संकट, ने सभी को मिलकर व्यवस्था सुनिश्चित करने पर विवश किया।

कौटिल्य ने राजा पर जन कल्याण का अंकुश लगाया है। उसने आशा की है कि जन स्वीकृति से अस्तित्व में आया राजा अपने को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयासरत रहता है। कौटिल्य ने ''राजकोष'' पर जनता का नियन्त्रण माना है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि बिना जन स्वीकृति के नया कर नहीं लगाया जा सकता है। वह राजा को पूर्ण आजादी नहीं देता वरन् उस पर जनस्वीकृति का बंधन लगाता है।

3.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप

कौटिल्य राज्य के स्वरूप के संबंध में साव्ययी रूप में विचार रखते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य सात अंगों जैसे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र से मिलकर बना है। उसकी मान्यता है कि यह आवश्यक अंग है। कौटिल्य के साव्ययी विचारों से पूर्व की भारतीय चिन्तन में इसकी झलक मिलती है। ऋग्वेद में जहां इसकी झलक मिलती है वहीं यर्जुवेद में कहा गया है कि विराट पुरूष की पीठ राष्ट्र है और उसकी उदर पीठ, जांघ तथा घुटने आदि उसकी प्रजा है।

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत सावयवी सिद्धान्त पूर्णतः स्पष्ट और मौलिक है। इसका उद्भव ऋग्वेद के पुरूष उक्ति में मिलता है। कौटिल्य ने अपने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। राजा के बाद मंत्री या अमात्य है जो उसे परामर्श देते है। उनकी सहायता से ही राज्य का संचालन संभव हो पाता है। दुर्ग राज्य की सुरक्षा का कवच है। जनपद अथवा भू-भाग राज्य के अस्तित्व का भैतिक आधार है। जन कल्याण के लिए भरा हुआ कोष आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दण्ड भी राज्य का आवश्यक अंग है क्योंकि बिना भय के कानून का पालन सुनिश्चित कराना असंभव है। कौटिल्य इसमें मित्र को भी स्थान देता है। आधुनिक समय में जनसंख्या, निश्चित भू-भाग , सरकार तथा सम्प्रभुता को राज्य का अंग माना जाता है परन्तु कौटिल्य ने इसे साथ मानते हुए इसमें कोष, दुर्ग मित्र को जोड़ा है।

कौटिल्य ने राज्य को पुलिस राज्य नहीं माना है। वह राज्य के व्यापक कार्यों की वकालत करता है। उसका मानना है कि राज्य को व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता करना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि इस परम् उद्देश्य को पाने के लिये राज्य को सभी यत्न करने चाहिए। राज्य के द्वारा नागरिकों में देशभक्ति और कर्तव्य परायणता भरने के प्रयास करने चाहिए। उसका मानना था कि राज्य द्वारा जन कल्याण के सभी कार्य करने चाहिए। कौटिल्य नागरिक सुरक्षा, जनकल्याण को आवश्यक मानता था। वह विदेशी राष्ट्रों पर पैनी नजर रखने की भी वकालत करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राज्य की सुरक्षा करना।
2. शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
3. प्रजा की वाह्य और आंतरिक संकटों से रक्षा करना।
4. देश की सीमाओं का विस्तार करना।
5. कृषि को उन्नत करने का सदैव प्रयत्न करना।
6. पशुओं का संरक्षण और संर्वद्धन करने का प्रयत्न करना।
7. व्यापार को बढ़ावा देना।
8. वनों का विस्तार तथा कल-कारखानों का प्रसार करना।
9. सामाजिक, शैक्षणिक कार्यों को करना।

राजा एवं सेना संबंधी कार्यः- कौटिल्य राज्य के सात अंगों में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। वह शासन की धुरी के समान है। वह शासन को प्रभावी बनाने तथा जनकल्याण को सुनिश्चत करने का माध्यम है।

राजा के गुणः- कौटिल्य ने राजा के आवश्यक गुणों का विस्तृत विवरण दिया है। उसके अनुसार राजा को कुलीन, स्वस्थ, शास्त्र का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। उसे अभिगामी गुणों, प्रज्ञा गुणों, उत्साह गुणों तथा आत्म सयंम गुणों से युक्त होना चाहिए। अभिगामी गुणों अर्न्तगत राजा की कुलीनता, धैर्य, दूरदर्शीता, सत्यवादिता, आदि आती है। इसके अर्न्तगत राजा से यह आशा की जाती है कि वह उचित , सत्य तथा शास्त्रों के अनुरूप चीजों को ग्रहण करेगा। उत्साह गुण में राजा में निर्भीकता, तेजी एवं दक्षता से कार्य करने की आशा रखी जाती है। आत्म संयत गुणों में राजा से संयमी, बलवान, मृदुभाषी तथा उदार होने की आशा की जाती है।

कौटिल्य का मत है कि शिक्षा एवं कठोर अभ्यास से इन गुणों का विकास किया जा सकता है। कौटिल्य का कहना था-'' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल भी बिना किसी युद्ध के अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है।''

कौटिल्य ने शिक्षा पर बहुत महत्व दिया है। उन्होंने शिक्षा की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार मुण्डन संस्कार के बाद वर्णमाला और अंकमाला का अभ्यास कराया जाय। उपनयन के बाद उसे क्रयी, वार्त, दण्ड नीति का ज्ञान कराया जाए। वर्ता के अध्ययन से राजा की आर्थिक समस्याओं को समझने की क्षमता विकसित होती है। दण्ड नीति में योग्य राजा अपने राज्य मे शांति और व्यवस्था लागू कर जनकल्याण सुनिश्चत करता है। आन्वीक्षकी विद्या राजा की बुद्धि को तीव्र करती है। यह लोक उपकार करती है। इसे राजा सुख-दुख में स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता है।

राजा की दिनचर्याः-कौटिल्य के चिन्तन में राजा का प्रमुख स्थान है। राजा को सदैव सजग, सर्तक रहना चाहिए। राजकर्म को ठीक प्रकार से करने के लिए वह दिन-रात को आठ भागों में बांट देता है। वह प्रत्येक भाग को डेढ़ घंटे का होगा। वह दिन के प्रथम भाग में राजा के द्वारा रक्षा तथा पिछले दिनों के आय-व्यय को देखने पर बल देता है। दूसरे भाग में वह जनता, नागरिकों से मिले तथा उनका कल्याण सुनिश्चित करने पर बल देता है। तीसरे भाग को स्नान, भोजन तथा स्वध्याय के लिए सुरक्षित करता है। चौथे भाग में कर विभाग का निरीक्षण पर बल देता है। पांचवा भाग मंत्रीपरिषद से परामर्श करने के लिए सुरक्षित है। सातवें भाग में स्वेच्छा से वह कोई कार्य कर सकता है। आठवां भाग हाथी, घोड़े, सेना के निरीक्षण के लिये आरक्षित है।

इसी प्रकार रात्रि को आठ भागों में विभाजित किया गया है। रात्रि के पहले भाग में गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग में स्नान, भोजन स्वध्याय तथा तीसरे भाग में संगीत सुनने के लिए निश्चित करता है। चौथा , पांचवा भाग शयन के लिए निश्चित है। छठे भाग में जागकर दिन में संपादित किये जाने वाले कार्य पर विचार करें। सातवें भाग में गुप्तमंत्रणा करें तथा गुप्तचरों को यथा स्थान भेजें। आठवें भाग में आचार्य , पुरोहित आदि से आाशीर्वाद ग्रहण करें। इसी समय वैद्य, रसोइया, ज्योतिष से परामर्श करें। इन सबसे निवृत होने के बाद दान दक्षिणा देने के बाद वह दरबार में प्रवेश करें। कौटिल्य वंशानुगत राजतंत्र का समर्थक था। वह राजा के बाद ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी सौंपने का पक्षधर था। यहां पर

कौटिल्य योग्य उत्तराधिकारी का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि यदि योग्य उत्तराधिकारी न हो तो प्रधानमंत्री के द्वारा योग्य राजकन्या को उत्तराधिकारी बनाना चाहिए।

राजा के प्रमुख कार्यः- कौटिल्य ने राजा के निम्नलिखित प्रमुख कार्य बताये हैः-

1. प्रजा का कल्याण के लिए प्रयास करना।
2. धर्म का पालन तथा रक्षा करना।
3. शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
4. प्रशासनिक कार्यों हेतु योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करना।
5. विधि निर्माण करना।
6. न्यायिक कार्य करना।
7. दण्ड की व्यवस्था करना।
8. आर्थिक एवं वाणिज्यिक कार्यों की निगरानी करना।
9. राजकोष की अभिवृद्धि के उपाय करना।
10. युद्ध के लिए सदैव तैयार रहना।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राजा को व्यापक शक्तियां प्रदान करता है परन्तु वह सामाजिक, धार्मिक नियमों से बंधा हुआ है। प्रो0 अल्तेकर का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य का राजा बहुत लौकिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक बंधनों से मर्यादित है।''

प्राचीन समय से भारतीय चिन्तन में राज्य के साव्यय रूप का उल्लेख मिलता है। इस सिद्धान्त में राज्य की कल्पना एक जीवित शरीर की तरह की जाती है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिस प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर भी विभिन्न अंगों से मिलकर बना है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में राज्य की कल्पना विराट पुरूष की तरह की गई है। कौटिल्य प्राचीन भारत का पहला विद्वान था जिसने राज्य के संबंध में इतने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य ने राज्य संबंधी अपने विचार में राज्य को सात अंगों का मिश्रण बताया। उनकी मान्यता थी कि राज्य रूपी शरीर सात अंगों से मिलकर बना है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य का राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त साप्तांग सिद्धान्त कहलाया। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' के छठे अधिकरण के पहले अध्याय में राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सात अंग निम्न हैः-

1. स्वामी अथवा राजा 2. अमात्य 3. जनपद 4. दुर्ग 5. कोष 6. दंड

7. मित्र

1.स्वामी अथवा राजाः- कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में स्वामी अथवा राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य की सफलता राजा पर निर्भर करती है। कौटिल्य को भारत में प्राचीन समय में पाये जाने वाले गणतन्त्रों का पर्याप्त ज्ञान था परन्तु वह योग्य कल्याणकारी राजा का प्रबल समर्थक था। कतिपय यही कारण था कि उसने राजा की योग्यता, गुणों तथा नीतियों का व्यापक उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है। बी0पी0 सिंह का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन को गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।''

कौटिल्य राजा में आदर्श रूप देखता है। उसका राजा सर्वगुण सम्पन्न एक आदर्श व्यक्ति है। कौटिल्य के राजा संबंधी विचार प्लेटो के आदर्श राजा या दार्शनिक शासक (Philosopher King) के समान है। वह स्पष्ट करता है कि राजा दृढ़ निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी , वृद्धों के प्रति सम्मान का भाव रखने वाला, विवेकपूर्ण,दूरदर्शी उत्साही तथा युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसमें कठिन समय में साहस न छोड़ने तथा समस्या को पकड़ने की क्षमता होनी चाहिए। वह राजा में राजकोष की वृद्धि की क्षमता रखने की क्षमता होना आवश्यक मानता है।

कौटिल्य राजा में आध्यात्मिक एवं नैतिक गुण को भी आवश्यक मानता है। उसका मानना है कि कुछ गुण स्वभाव से होते है परन्तु कुछ गुण अभ्यास, अध्ययन से विकसित किये जा सकते है। कतिपय यहीं कारण है कि वह राजा की शिक्षा पर बहुत बल देता है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि '' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी जल्द नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल बिना किसी युद्ध के नष्ट हो जाते है।'' कौटिल्य के अनुसार राजा को दण्ड नीति, राज्य शासन, सैनिक शिक्षा, मानव शास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का जानकार होना चाहिए। राजा को अपनी इन्द्रियों पर सदैव अंकुश रखना चाहिए। कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में राजा का स्थान सर्वोच्च है। राजा राज्य रूपी शरीर में मस्तिष्क के समान है। जिस प्रकार मस्तिष्क के अक्षमता का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर के अंगों पर पड़ता है उसी प्रकार अयोग्य राजा से सम्पूर्ण राज्य ही अस्वस्थ्य हो जाता है।

2.अमात्य या मंत्री:- सामान्यतः अमात्य का अर्थ मंत्री से लिया जाता है। कौटिल्य अमात्य के अर्न्तगत मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारियों दोनों से रखता है। कौटिल्य का मत था कि जिस प्रकार एक पहिये की गाड़ी नहीं चल सकती उसी प्रकार एक व्यक्ति सम्पूर्ण प्रशासन नहीं चला सकता है। राजा को प्रशासन में सहयोगियों से परामर्श लेना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार सभी कार्यों की सफलता अमात्यों पर निर्भर करती है। कृषि आदि कार्यों की सफलता राजवंश अन्तपाल आपत्तियों का प्रतिवाद , उपनिवेशों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड तथा राज करो का निग्रह सम्पूर्ण कार्य अमात्यों द्वारा

सम्पन्न होते है। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि योग्य, अनुभवी व्यक्ति को बिना किसी पक्षपात के अमात्य बनाना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि उनकी चरित्र परीक्षा के बाद नियुक्ति होना चाहिए। अमात्यों को उनकी क्षमता के अनुसार कार्य सौंपे जाने चाहिए।

3.जनपदः- जनपद कौटिल्य के राज्य रूपी शरीर का तीसरा अंग है। कौटिल्य का जनपद से अर्थ उस भू-भाग में निवास करने वाले नागरिकों अथवा निवासियों से है। उसका मानना था कि जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि दूसरे प्रदेशों से लोगों को आमंत्रित कर नये जनपद स्थापित किये जाय। प्रत्येक जनपद में कम से कम 100 घर तथा अधिक से अधिक 500 घर वाले गांव बसाये जाय जिसमें किसान एवं शूद्र अधिक हो। एक गांव दूसरे से दो कोस से अधिक दूर न हो।

जनपद के संगठन के संबंध में कौटिल्य स्पष्ट करता है कि ''आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय , चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख , दो सौ गांवों के बीच खर्वाटिक तथा दस गांवों के समूह के रूप में संग्रहण की स्थापना की जाय। इस प्रकार प्रशासनिक दृष्टि से जनपद , स्थानीय, द्रोणमुख, खर्वाटिक , संग्रहण और गांव में बंटा होगा। कौटिल्य राज्य के छोटे आकार में विश्वास करता था।

कौटिल्य जनपद निर्माण की पूरी योजना देता है जिसमें प्रारम्भ में तथा सीमान्त में किले बने हो जिसमें अन्न व पानी प्रचुरता से हो। आपात काल में बन एवं पर्वत में जा रक्षा की जा सके। जनपद के पास शत्रु राजा के विरोधियों की संख्या अधिक होनी चाहिए। शत्रु राज्य कमजोर होना चाहिए। उसके पास घने जंगल हो जो कीमती लकड़ी, हिंसक पशुओं से भरे हो। इसके अन्दर नदी , तालाब हो तथा इसकी जलवायु अच्छी हो। निवासियों में नीच वर्ग की आबादी अधिक हो तथा मेहनती लोगों की अधिकता हो। ऐसा जनपद सम्पन्न जनपद होगा।

कौटिल्य ने जनपद के निवासियों के संदर्भ में स्पष्ट किया है कि वह निष्ठावान , स्वाभिमानी और सम्पन्न होनी चाहिए। वह सरल हदय वाली, राजा के करो को स्वेच्छा से चुकाने वाली होनी चाहिए। प्रजा के अन्दर स्व-अनुशासन तथा कर्तव्य परायणता होनी चाहिए।

4.दुर्गः- कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो तरह के दुर्ग का वर्णन किया हैः-

1. दुर्ग विधान
2. दुर्ग निवेश

दुर्ग विधान का कौटिल्य का आशय मुख्य दुर्ग से है। इसमें वह मुख्य दुर्ग के निर्माण पर बल देता है।

दुर्ग निवेश से उसका आशय दुर्ग के अन्दर के भवनों तथा राज्यों के अन्दर महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित भवनों से है।

दुर्ग राज्य की रक्षात्मक आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक राज्य की सुरक्षा के लिए मजबूत किला आवश्यक होता है। किले में सेना की मोर्चाबंदी , आक्रमण के लिए गुप्त निकास द्वार , गोला बारूद , भोजन का बंदोबस्त होना चाहिए।

कौटिल्य ने दुर्ग को चार श्रेणियों में बांटा हैः-

1.औदक दुर्गः- वह दुर्ग जो चारों ओर से पानी तथा तालाब से घिरा होता है वह औदक दुर्ग कहलाता है।

2.पर्वत दुर्गः- बड़ी चट्टानों से निर्मित , पर्वतों पर स्थित दुर्ग पर्वत दुर्ग कहलाता है।

3.धान्वन दुर्गः- ये ऐसे दुर्ग होते हैं जो ऐसे मरूस्थलीय जगहों पर बने होते है जहां न तो पानी होता और न ही पहुचंना आसान होता है।

4.वन दुर्गः- घने जंगलों में बना दुर्ग जहां का रास्ता बेहद दुर्गम हो उसे वन दुर्ग की संज्ञा दी।

कौटिल्य की मान्यता थी कि औदक और पर्वत दुर्ग संकट के समय राज्य की तथा उसके नागरिकों की रक्षा में सहायक होते हैं, जबकि धान्बन दुर्ग एवं वन दुर्ग संकट के समय राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक एवं अति उपयोगी होते हैं।

5.कोष-

राज्य में राजा को अनेक काम करने होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक राज्य में कोष अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह कोष की वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि धर्म, अर्थ, काम में अर्थ प्रधान है। सेना, भूमि , समृद्धि आदि सभी में कोष की आवश्यकता होती है।

कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि प्रत्येक राज्य को युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहना आवश्यक है। युद्ध हो या न हो परन्तु राज्य को तैयार रहना चाहिए। इन सभी कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष हो। कोष से सेना एवं दुर्ग दोनों की रक्षा होती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को कोष को प्रचुर करने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसे प्रजा से प्राप्त अनाज का छठा भाग, व्यापार से दसवां, पशुओं के व्यापार से प्राप्त पचासंवा भाग सदैव राजा के द्वारा राजकोष में जमा किया जाए। कौटिल्य स्पष्ट करता है कि -'' राजा प्रजा से इस तरह संग्रह करे जैसे माली बगिया से पके-पके फल लेता है। प्रजा यदि कर देने में असमर्थ है तो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न किया जाय क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असंतोष अथवा विद्रोह करने का कारण होता है।

6.दण्ड अथवा सेनाः - प्राचीन भारत के सभी चिन्तकों ने दण्ड को बहुत महत्व दिया है। कौटिल्य ने दण्ड का प्रयोग सेना के संदर्भ में किया है। सेना राज्य की सुरक्षा की प्रतीक है। कौटिल्य का मत है

कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है उसके मित्र तो बनते है साथ ही उसके शत्रु भी मित्र बन जाते है। कौटिल्य सेना में क्षत्रियों को अधिकाधिक शामिल करने की बात करता है। उसकी मान्यता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य जातियों को भी शामिल किया जा सकता है।

कौटिल्य की मान्यता थी कि सैनिकों को स्वाभिमानी होना चाहिए। राजा को उनकी बेहतर सेवा के लिये , बेहतर वेतन तथा सुविधा के लिए तैयार रहना चाहिए। कौटिल्य ने सेना में हस्ति सेना, अश्व सेना , रथ सेना तथा पैदल सेना का उल्लेख किया है। कौटिल्य इसमें हस्ति सेना को सर्वाधिक महत्व देता है। दण्ड समान रूप से सभी पर लागू होता है अतः सभी पर समान रूप से लागू करने के लए भी सेना अथवा शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड अथवा भय के अभाव में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। कौटिल्य का मत है कि राजा को आपात काल के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए। आपातकाल के समय मित्रों की सहायता से मुकाबला किया जाना चाहिए। "कौटिल्य ने मित्रों पर विशेष बल दिया है। उसका मानना है कि मित्र वंश परम्परागत , विश्वासी, स्थायी एवं हितैषी होने चाहिए।

3.3.4.1विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राज्य का निर्माण इन सात अंगों से मिलकर हुआ है। अतः प्रत्येक अंग की मजबूती से राज्य शक्तिशाली होगा। वह प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण मानता है। इनमें परस्पर सहयोग से राज्य का संचालन सुचारू हो सकता है। राज्य के सात अंगों के संदर्भ में मनु, भीष्म,शुक्र का मत है कि स्वामी, जनपद,दुर्ग, कोष, दंड और मित्र आदि महत्व की दृष्टि से क्रमानुसार है। कौटिल्य भी सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से स्वामी को सर्वाच्च, सर्वशक्तिशाली और महत्वपूर्ण मानता है। वह सम्पूर्ण शासन की आधारशिला मानता है। इसके विपरीत आचार्य भारद्वाज ने इस मत की उपेक्षा करते हुए स्वामी की तुलना में अमात्य को ज्यादा महत्वपूर्ण माना है। कौटिल्य ने अपनी रचना में स्वामी को अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसने सम्पूर्ण प्रशासन के केन्द्र में स्वामी को रखा है। उसका मानना है कि एक अयोग्य अमात्य को हटाया जा सकता है। उसके स्थान पर राजा नया अमात्य नियुक्त कर सकता है। वह सम्पूर्ण प्रशासन की आधारशिला राजा को मानता है। कौटिल्य अपने साप्तांग सिद्धान्त के द्वारा राजनीति शास्त्र को अधिक लौकिक स्वरूप प्रदान करता है।

3.3.5 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार

कौटिल्य ने अपनी रचना "अर्थशास्त्र" में राजा के लिये मंत्रीपरिषद की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि राजा एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह योग्य अमात्यों का चुनाव करें। कौटिल्य प्रत्येक कार्य के संचालन पर सद्भावना पर विशेष ध्यान देता है।

महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार पशु बादलों पर, बाहम्ण वेदों पर , पत्नी पति पर निर्भर करती है , उसी प्रकार राजा भी मंत्रीपरिषद पर निर्भर करता है। मनु ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया है। कौटिल्य ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया।

मंत्रीपरिषद का निर्माणः- मंत्रीपरिषद के गठन में कौटिल्य का सर्वाधिक जोर अमात्यों का योग्यता पर है। इसके लिये उसने अत्यंत कठोन नियम एवं मापदण्ड तय किये हैं। उसका मानना है कि क्षमतावान, योग्य और बिना दाग का व्यक्ति को मंत्रीपरिषद में स्थान दिया जान चाहिए। बेनी प्रसाद के शब्दों में ‘‘कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक , व्यक्तिगत जीवन, बौद्विक चातुर्य, उचित निर्णय , कर्तव्य की उच्च भावना, लोकप्रियता मंत्रीपरिषद के लिये आवश्यक योग्यतायें होने चाहिए।

मंत्रीपरिषद में मन्त्रियों की संख्या कितनी होगी उसका आकार क्या होगा इस पर कौटिल्य स्पष्ट राय नहीं रखते। मनु ने अमात्यों की संख्या 12, वृहस्पति ने सोलह, शुक्राचार्य ने बीस मन्त्रियों की संख्या सुझायी है। कौटिल्य इस संख्या के संदर्भ में मौन है। वे कार्य के अनुपात तथा योग्यता के आधार पर संख्या निश्चित करने पर बल देता है।

अमात्यों की नियुक्तिः- इस संबंध में उसने सबसे पहले विभिन्न आचार्यों के पर प्रकट किये । कौटिल्य ने आचार्य भारद्वाजक, विशालरक्ष, पराशर, वाटव्याधि और बाहुदंतीपुत्र के विचारों का विश्लेषण किया । कौटिल्य की मान्यता थी कि विद्या, साहस, गुण, दोष, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्त करें।

कौटिल्य की मान्यता थी कि अर्थशास्त्र के विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, उत्साही, प्रभावशील, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान और द्वेषवृत्ति रहित पुरूष ही प्रधानमंत्री के योग्य है।

अमात्यों के आचरण की परीक्षाः- कौटिल्य ने अमात्यों के आचरण की समीक्षा पर विशेष बल दिया। कौटिल्य का मत है कि धर्म, अर्थ, काम तथा भय के आधार पर अमात्यों के आचरण का परीक्षण करना चाहिए। उक्त चारों कसौटियों पर सफल होने के बाद ही अमात्य को मंत्रीपरिषद में नियुक्त करना चाहिए।

मत्रंणा एवं गोपनीयताः- कौटिल्य ने गोपनीय मत्रंणा पर विशेष बल दिया। उसकी मान्यता थी कि मत्रंणा का गोपनीय न होना राजा एवं मंत्रीपरिषद के लिये घातक होता है। जिस प्रकार कछुआ अपने कवच को समेटे होता है और केवल आवश्यकता होने पर उन्हें बाहर करता है। उसी प्रकार भी मंत्रणा गोपनीय होनी चाहिए। मंत्री की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मंत्रणा का स्थान अत्यंत सुरक्षित हो। राजा एवं अन्य मंत्री इतने संयमित और विचारमान हो कि किसी भी चेष्ठा से भी गोपनीयता भंग न हो। मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पक्षी भी झांक न सके तथा आवाज बाहर न जाये। कौटिल्य का मत था कि मंत्रणा सदैव तीन-चार लोंगो के साथ की जानी चाहिए। एक ही व्यक्ति से

बार-बार मंत्रणा करने से कई बाद संदेह एवं कठिन प्रश्न का सही हल नहीं निकल पाता है। इसमें कई बार संबंधित मंत्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कार्य करने लगता है। कौटिल्य तीन से चार मंत्री का पक्षधर है। इससे अधिक मंत्री होने पर प्रायः सुरक्षा एवं अनिर्णय की समस्या उत्पन्न होती है।

मंत्रीपरिषद के कार्यः- कौटिल्य के अनुसार मंत्रीपरिषद के निम्न कार्य हैः-

1.राजा को परामर्श देना।

2.संकट के समय राजा की रक्षा करना।

3.राजा को भ्रष्ट, अनैतिक कार्यों से बचाना।

4.राजा के गुप्त भेदों को किसी के समक्ष उजागर न करें।

5.राजा की मृत्यु का समाचार भी बहार नहीं जाना चाहिए।

राजा एवं मंत्रीपरिषद का संबंधः- राजा एवं मंत्रीपरिषद के संबंधों के विषय में कौटिल्य का विचार है कि राजा सामान्यतः मंत्रीपरिषद के बहुमत के आधार पर कार्य करें। इसके साथ ही यदि परामर्श उचित न हो तो वह स्वविवेक से निर्णय ले सकता है। कौटिल्य ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि अयोग्य, अर्कमण्य, विलासी राजा होने पर उस पर मंत्रीपरिषद का नियन्त्रण आवश्यक है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। 'दिव्यावदान' में इस बात का उल्लेख मिलता है जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अंधाधुध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मंत्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान अशोक को ऐसा करने से रोका था। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में जिस प्रकार कार्य किया उसमें भी महामंत्री एवं मंत्रीपरिषद की भूमिका का महत्व स्पष्ट होता है।

3.4 प्रशासनिक व्यवस्था

राजा एवं मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यवहारिक संचालन के संबंध में कौटिल्य ने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य 'प्रजा प्रेमी' राज्य की कल्पना करता है। जिसमें शासन का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण करना है। यही कारण है कि बड़े कार्यों के संचालन के लिये अनेक प्रशासनिक सहयोगियों की आवश्यकता पर बल देता है। वह राजा को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रधान मानता है परन्तु प्रशासन हेतु अठारह (18) अन्य प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन करता है। कौटिल्य ने उन्हें अठारह तीर्थों की संज्ञा दी है। ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैः-

1.मंत्रीः- राज्य प्रशासन में राजा के बाद मंत्री का प्रमुख स्थान होता है। मंत्री राजा का विश्वस्त व्यक्ति होता है। वह राजा को परामर्श देता है।

2.पुरोहितः- राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म एवं नीति के संबंध में संकेत देता है।

3.सेनापतिः- सेनापति की राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सेना का प्रधान होता है। वह सेना का गठन करता है तथा संकट के समय में सेना का संचालन करता है।

4.दौवारिकः- दौवारिक राजमहल में रक्षकों का प्रधान होता है। उसी के द्वारा राजा के पास कोई प्रार्थना पत्र पहुंचता है।

5.अंतर्वेशिकः- अंतर्वेशिक राजा का अंतपुर में प्रधान अंगरक्षक होता है। राजा की बीमारी की अवस्था में वह राजा की दिनचर्या से संबंधित कार्यों का संपादन करता है।

6.प्रशास्ताः- प्रशास्ता एक पदाधिकारी होता है जो सेना को नियन्त्रण में रखता है। वह शंति और व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता है।

7.युवराजः- युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

8.समाहतीः- कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था में समाहती को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसका स्थान वित्तमंत्री के समान है। उसका मुख्य कार्य वार्षिक बजट प्रस्तुत करना होता है। वह सम्पूर्ण आय-व्यय का लेखा-जोखा रखता है। वह राज्य के आय को बढ़ाने के लिये कर लगाने तथा उसकी वसूली की व्यवस्था करता है।

9.सन्निधाताः- सन्निधाता राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह राजकोष का अध्यक्ष होता है। उसका मुख्य कार्य राजकोष का भलिभांति संग्रह और पर्यवेक्षण करना है।

10.प्रदेष्टा आयुक्तः- प्रदेष्टा आयुक्त एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह कार्यपालिका तथा न्यायिक दोनों कार्यों का संपादन करता है। उसका मुख्य कार्य अपराधों का दमन करना तथा जो राज कर नहीं देते उनसे कर वसूल करना या दंड देना होता है।

11.नायकः- यह सेना का संचालक होता है। वह एक सैनिक पदाधिकारी होता है।

12.पौर व्यावहारिकः- पौर व्यावहारिक नगर का न्यायिक पदाधिकारी होता है।

13.कर्मातिकः- कर्मातिक खान उद्योगों का अधिकारी होता है। वह राज्य के कल कारखाने एवं उद्योगों की देख-रेख करता है।

14.मंत्रिपरिषद का अध्यक्षः- मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता हैं इसके अलावा कौटिल्य ने अन्य विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है जो प्रशासन के दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इसमें पोतवाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष आदि प्रमुख हैं।

15.दंडपालः- यह सेना एवं पुलिस का मुख्य अधिकारी होता है।

16.दुर्गपालः- यह दुर्ग का प्रभारी होता है। यह राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

17.अंतपाल या सीमारक्षकः- यह मुख्य अधिकारी होता है जो सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा करता है।

18.आटविकः- आटविक वन संपति की रक्षा करता है।

प्रशासनिक विभागाध्यक्ष

कौटिल्य ने प्रशासन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का वर्णन इस प्रकार किया हैः-

1.कोषाध्यक्षः- कोषाध्यक्ष राजकोष का स्वामी होता है। वह कोष को सम्पन्न रखता है। वह विभिन्न विशेषज्ञों की अनुमति से कोष में विभिन्न रत्नों, आभूषणों को भी रखता है।

2.सीताध्यक्षः- राज्य में कृषि से प्राप्त अनाज के रूप कर के संग्रहण का जिम्मेदार होता है। यह इन अनाजों का भंडारण करता है। यह कृषि का जानकार भी होता है।

3.पठ्याध्यक्षः- पठ्याध्यक्ष एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। यह राज्य में क्रय विक्रय वाली वस्तुओं की व्यवस्था करता है।

4.आयुधागाराध्यक्षः- आयुधगार का अध्यक्ष युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र संबंधी चीजों की व्यवस्था करता है।

5.पोतवाध्यक्षः- पोतवाध्यक्ष के पास महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। वह समस्त नापतौल की व्यवस्था का जिम्मेदार होता है।

6.शुल्काध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो राज्य की समस्त शुल्क या चुंगी की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

7.सूत्राध्यक्षः-यह वह पदाधिकारी होता है जो सूत संबधी समस्त व्यवसाय का निर्धारण करता है। यह सूत,रस्सी आदि की निगरानी करता है।

8.सुराध्यक्षः- यह आबकारी विभाग का प्रमुख होता है। यह समस्त मादक पदार्थों जैसे भांग, गांजा, शराब आदि पर नियन्त्रण रखता है।

9.सूनाध्यक्षः- सूनाध्यक्ष के पास वधशाला की जिम्मेदारी होती है। यह पशुओं, मछलियों, पक्षिओं तथा जंगली जानवरों की निगरानी करता है।

10.मुद्राध्यक्षः- यह मुद्रा के निर्माण , संचालन के प्रति जिम्मेदार होता है। इसका दायित्व अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है।

11.रथाध्यक्षः- यह रथ सेना का प्रभारी होता है। यह राज्य की सुरक्षा के लिये प्रभावी रथ सेना के निर्माण के लिये जिम्मेदार होता है।

12.अश्वाध्यक्षः- यह घोड़ों की रक्षा के लिये कार्य करता है। वह राज्य में अनेक स्थानों पर घुड़सालों का निर्माण करवाता है।

13.गजशाला अध्यक्षः- यह हाथियों के सम्पूर्ण प्रबंधन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी सुरक्षा , उनके आहार का भी प्रबंध करता है।

14.गणिकाध्यक्षः- इसका कार्य राज्य में गणिकाओं (वेश्याओं) की निगरानी करना होता है।

15.नौकाध्यक्षः- नौकाध्यक्ष नौकाओं के निर्माण, नौका मार्गों पर उनके निर्बाध संचालन के लिये जिम्मेदार होता है।

16.गोध्यक्षः- यह गोवंश की रक्षा तथा उनके विकास के लिये जिम्मेदार होता है।

17.सुवर्णाध्यक्षः- यह राज्य के अन्दर सोने चांदी के कार्य करने के लिये स्थान बनवाने तथा उनकी निगरानी का कार्य करता है।

18.कोष्ठगाराध्यक्षः- कोष्ठगाराध्यक्ष राज्य में अनाजों के भंडार की व्यवस्था करता है।

19.कुप्याध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो जंगल में उपलब्ध वनस्पितियों एवं अन्य सामग्रियों की रक्षा करता है।

स्थानीय शासन

कौटिल्य ने प्रशासन के सबसे निचले हिस्से पर अर्थात स्थानीय शासन का भी उल्लेख किया है। वह राजा के द्वारा गो, स्थानिक और नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों की नियुक्ति का समर्थन करता है। उसके द्वारा वर्णित प्रमुख स्थानीय प्रशासन के अधिकारी निम्न हैः-

1.गोपः- यह स्थानीय शासन का प्रमुख पदाधिकारी था। वह पांच से दस ग्रामों का जिम्मेदार था। इन ग्रामों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी गोप की होती है।

2.स्थानिकः- यह गोप के ऊपर स्थापित एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। जिले के समस्त गोप उसके अधीन थे।

3.नगराध्यक्षः- प्रत्येक नगर का अध्यक्ष नगराध्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्रशासन की व्यापक एवं सुचारू व्यवस्था की थी। उसने प्रशासन के प्रत्येक पहलू पर न केवल ध्यान दिया वरन उसके लिये अलग विभाग एवं पदाधिकारी नियुक्त किया। कौटिल्य ने प्रशासन को अनेक भागों में बांटा। कौटिल्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को भी स्थान दिया गया है। वह सत्ता के केन्द्रियकरण के स्थान पर विकेन्द्रियकरण का समर्थक था।

3.5 कानून एवं न्याय संबंधी विचार

कौटिल्य ने कानूनों के सख्ती से पालन पर बल दिया। कौटिल्य का कानून अनुभववाद और आध्यात्मवाद पर आधारित है। उसके कानून का आधार धर्म है। उसकी मान्यता थी कि जो राज्य कानून का पालन तथा न्याय सुनिश्चित नहीं कर पाते वह शीघ्र नष्ट हो जाते है। उसकी मान्यता थी कि राज्य का उद्देश्य प्रजा के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना है। असमाजिक तत्वों तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। वह कानून एवं दण्ड को सगी बहनों की तरह मानता है जो राज्य को स्थायित्व और नागरिक जीवन में सुधार का संचार करता है।

कानून का उद्देश्यः- कानून का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण करना है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के सभी पहलुओं का समाधान कल्याणकारी रूप में करता है।

कानून की परिभाषाः- कौटिल्य के अनुसार कानून शाही आदेश है जो स्वीकृति के द्वारा लागू किया जाता है। कानून सभी शाही आदेशों का प्रतिरूप है। उउन्होंने राजा को वरूण के समान माना है। वह सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ न्यायधीश की भूमिका भी अदा करता है।

कानून के स्त्रोतः- कौटिल्य ने कानून के चार स्त्रोत बताये हैः-

1. धार्मिक उपदेश
2. व्यवहारिक अथवा साथियों का व्यवहार
3. समाज के रीति रिवाज और परम्परा
4. राजकीय आदेश

कौटिल्य ने उपरोक्त के सदंर्भ में एक स्थान पर लिखा है कि ‘‘धर्म व्यवहार, चरित्र राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं।

कानून का वर्गीकरणः- कौटिल्य ने कानून का व्यापक वर्गीकरण किया है। उन्होनें इसको निम्न भागों में बांटा हैः-

1.विवाह संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक “अर्थशास्त्र“ में विवाह पर व्यापक विमर्श किया है। इसमें उन्होनें धर्म विवाह, स्त्री का पुर्न विवाह , पति-पत्नी द्वेष , पर पुरूष अनुसरण और पुर्न विवाह पर व्यापक चर्चा कर इनके नियम और कानून का वर्णन किया है।

2.दाय अथवा उत्तराधिकार विषयक कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक “अर्थशास्त्र“ में उत्तराधिकार का सामान्य नियम पैतृक क्रम से विशेषाधिकार, पुत्रक्रम से विशेषाधिकार का वर्णन किया है। उसकी मान्यता है कि माता-पिता या पिता के जीवित रहते लड़के संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं होते। पिता के न रहने पर वह संपति का बटवारा कर सकते है। संयुक्त परिवारों में रहने वाले पुत्रों तथा पौत्र चौथी

पीढ़ी तक अविभाजित पैतृक संपति के बराबर के हकदार है जिसका कोई उत्तराधिकारी न हो उसे राज्य ले लेवे। उसकी मान्यता है कि पलित, पलित की संतान , मूर्ख, अंधा कोढ़ी उत्तराधिकार के अधिकारी नहीं होगें।

3.अचल संपति संबंधी कानूनः- इसके अर्न्तगत कौटिल्य ने संपति के बेचने, सीमा विवाद , कर की छूट, गांवों का बंदोबस्त, सामूहिक कार्यों में शामिल न होने का मुआवजा आदि का वर्णन इसके अर्न्तगत किया गया है। इसमें कर की छूट , रास्ते को रोकना, गांवों का बंदोबस्त भी शामिल है।

4.ऋण संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ऋण , ब्याज के नियम , एक व्यक्ति पर अनेक व्यक्ति के कर्जा संबंधी कानूनों का वर्णन किया है। वह ब्याज के संदर्भ में कहता है कि 100 पण पर सवा पण ब्याज लेना चाहिए। ऋण देने वालों तथा लेने वालों के चरित्र की निगरानी होनी चाहिए। अन्न संबंधी ब्याज फसल के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

5.धरोहर संबंधी कानूनः- इसके अर्न्तगत धरोहर , गिरवी, उधार की वस्तु को लौटाने गिनकर रखी गई धरोहर आदि के संबंध में व्यापक चर्चा की गई है।

6.दास और श्रमिक संबंधी कानूनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में दास , श्रमिक और नौकरों के वेतन पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने यूनानी विचारकों की तरह दास प्रथा को स्वीकार किया है। वह निम्न जातियों तथा अनार्यों को दास बनाने पर बल देता है। विशेष स्थिति में यदि उच्च कुल का व्यक्ति दास बन गया हो तो उसे मुक्त कर देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि दासी से संतान उत्पन्न हो जाए तो उसे दासता से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

7.साझेदारी विषयक कानूनः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि ठेके पर मजदूरी करने वाले मजदूर प्राप्त मजदूरी को आपस में बांट लें। व्यापारी को माल खरीदने से बेचने तक हुए खर्चे को जोड़ने के बाद बेचने से प्राप्त धन से हुए लाभ को साझीदार से बांट लेना चाहिए।

8.क्रय-विक्रय संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने क्रय-विक्रय संबंधी नियमों का विस्तृत उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। उन्होने स्पष्ट किया है कि क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों का बयान ; एक दिन में , किसानों का क्रय-विक्रय तीन दिन तथा दूध वालों का बयाना 5 दिन में वापस किया जा सकता है।

9.स्व-स्वामी संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने स्व-स्वामी संबंधी कानूनों का भी उल्लेख किया है। उसका मत है कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपति को उपभोग कर रहा है तो उस पर उसी का स्वामित्व माना जाना चाहिए। वह आगे और अधिक स्पष्ट करता है और कहता है कि यदि कोई व्यक्ति दस वर्ष तक किसी संपति पर अपना अधिकार खो देता है तो उस पर उसका दावा नहीं रह जाता है।

10.निंदा संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने निंदा संबंधी अथवा विवाद के संबंध में स्पष्ट किया है कि किसी को धमकाना, निदां करना , वाक्यारूष्य नामक अपराध के अन्तर्गत है।

11.जुआ संबंधी कानूनः- जुआ पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। उसका यह मानना था कि धूताध्यक्ष को अपनी निगरानी में नियत स्थान पर जुआ खलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था की है।

न्याय संबंधी विचार

प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप कौटिल्य भी स्वधर्म के पालन पर बहुत जोर देता है। उसकी मान्यता थी कि स्वधर्म पालन से न केवल स्वतः व्यवस्था बनती है वरन् लोक परलोक दोनों सुधरता है। इसके बावजूद जो नागरिक कानून का उल्लघंन करते है। उनको दंडित करने की भी व्यवस्था वह करता है। उसकी मान्यता थी कि न्याय कि बिना प्रजा धर्म, अर्थ, कात और मोक्ष्ज्ञ से वंचित हो जाता है। अतः न्याय के द्वारा ही प्रजा के उक्त परम् लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि कौटिल्य ने न्याय पर बहुत अधिक जोर दिया है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य न्याय को राज्य का प्राण मानता है।

न्यायधीश की नियुक्ति:- कौटिल्य ने अपने राजनीतिक दर्शन का आधार राजा को माना है। उनकी मान्यता एक योग्य, कर्तव्यपरायण तथा जनकल्याणकारी राजा की है। इसके बावजूद न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वह न्यायधीशों की नियुक्ति का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमार्त्य होने चाहिए जो एक साथ बैठकर विवादों का निपटारा कर सके। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जायेगी।

न्यायपालिका का संगठनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में चार स्थानों पर न्यायपालिका के गठन का सुझाव दिया।उसके द्वारा की गई न्यायपालिका की व्यवस्था इस प्रकार हैः-

1.जनपद संधि न्यायालयः- यह वह न्यायालय था जो दो राज्यों या गांवों की सीमा पर स्थापित किया जाता था। यही कारण है कि इसे संधि न्यायालय भी कहा जाता है।

2.संग्रहण न्यायालयः- कौटिल्य की न्यायपालिका की मुख्य इकाई थी। इसमें 10 गांवों के केन्द्र में स्थापित न्यायलय को संग्रहण न्यायालय कहा गया।

3.द्रोणमुख न्यायालयः- यह कौटिल्य की न्याय व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण इकाई थी। इसका क्षेत्र और अधिक व्यापक था। इसे चार सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित किया गया। इसका कर्मक्षेत्र संग्रहण न्यायालय से व्यापक था।

4.स्थानीय न्यायालयः- स्थानीय न्यायालय द्रोणमुख न्यायालय की अगली कड़ी था। इसका कार्यक्षेत्र द्रोणमुख न्यायालय से भी व्यापक था। इसमें आठ सौ गांवों का समाहित कराया गया। यह आठ सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित एक न्यायालय था।

न्यायपालिका का वर्गीकरण (प्रकारः-कौटिल्य ने विवाद के स्वरूप के आधार पर न्यायालयों को दो भागों में बांटा --

1. दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालय
2. फौजदारी अथवा कष्टक शोधन न्यायालय

दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालयः- धर्मस्थलीय न्यायालय वह न्यायालय है जो नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करते है। इस तरह के विवादों को कौटिल्य ने व्यवहार की संज्ञा दी है। इसमें मुख्य रूप से सम्पति , संविदा, उत्तराधिकार, विवाह , ऋण , धरोहर, साझेदारी आदि संबंधित विवाद आते है।

फौजदारी अथवा कष्टकशोधन न्यायालयः- कौटिल्य के अनुसार कष्टकशोधन न्यायालय वह न्यायालय है जिनका उद्देश्य राज्य के कष्टक अथवा शत्रुओं को राज्य से दूर रखना है। इसका मुख्य लक्ष्य राजा अथवा राज्य के विरूद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार करना है। इसके अर्न्तगत मुख्य रूप से प्रजा के प्रतिदिन के सम्पर्क के धोबी,जुल्री्र, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट आदि के द्वारा प्रजा के शोषण आदि के मामले आते है। इसमें कर्मचारियों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के मामले भी आते है। कौटिल्य ने इन सभी अपराधों को कष्टक की श्रेणी में रखा है। इन अपराधों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की व्यवस्था पर बल दिया।

कौटिल्य की सम्पूर्ण न्यायव्यवस्था आधुनिक है। वह न्याय की निष्पक्षता पर बहुत बल देता था। वह न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रिकरण का हिमायती था। उसने उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमात्यों पर बल दिया तथा निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत से करने पर बल दिया जो कि आज के समय (ज्यूरी) बहु सदस्यीय न्यायिक पीठ के रूप में विद्यमान है। उन्होंने न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रक्रिया, गवाही के लिखे जाने पर बल दिया। उसकी मान्यता थी कि न्याय प्रदान करने की व्यवस्था में लिंग तथा वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसने न्यायधीशों पर भी निगरानी पर बल दिया है। यह कार्य गुप्तचर विभाग को दिया गया। यदि न्यायधीश नियमों की अनदेखी करता है तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

दण्ड एवं गुप्तचर व्यवस्थाः-कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के साथ दण्ड व्यवस्था का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने दण्ड के औचित्य एवं दण्ड के प्रकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कौटिल्य का दण्ड संबंधी विचार बहुत तार्किक एवं यर्थातवादी है। उसकी मान्यता है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि छः शत्रु न जाने कब मनुष्य को उत्तेजित कर दे तथा मनुष्य को अधर्म, दुराचरण की ओर ले जाते है। ऐसी स्थिति में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। चारों ओर 'मत्स्य न्याय' की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। इस स्थिति से बचने के लिये कौटिल्य ने एक प्रभावी दण्ड व्यवस्था की कल्पना की जिसमें कानून तोड़ने तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले को त्वरित रूप से दण्डित करने की बात की गई।

दण्ड का स्वरूपः- कौटिल्य की मान्यता थी कि समाज में धर्म बना रहे तथा समाज में लोककल्याण स्थापित हो इसी उद्देश्य के लिये दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा ही दण्ड देने का अधिकारी होता है अतः उसका दण्ड सुधारात्मक होना चाहिए। उसके द्वारा प्रतिशोधात्मक दण्ड नहीं देना चाहिए। दण्ड सुधार के लिये कल्याण के लिये होना चाहिए।

3.6 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार

१.कौटिल्य दण्ड के निर्धारण में समानता के सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसका मानना है कि महिलाओं और बच्चों को कम दण्ड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका मानना है कि ब्राहमणों को भी कम दण्ड मिलना चाहिए। कौटिल्य का मानना था कि दण्ड का निर्धारण अपराध, अपराध की परिस्थितियों, वर्ण, लिंग के आधार पर करना चाहिए।

दण्ड के प्रकारः- कौटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड बताये हैः-

1.शारीरिक दण्डः- शारीरिक दण्ड में वह कोड़े मारना, अंग छेदन, हाथ-पैर बांधकर उल्टा लटकाना, ब्राहमण अथवा उच्च जातियों के माथे पर चिन्ह अंकित करने को शामिल करता है। उसने पाप काने वाले पुरूष को अन्य दण्ड भी बताये है। इसमें मुख्य रूप से बेंत मारना, थप्पड़ मारना, बांए हाथ को बांये पैर से तथा दांये हाथ को दांये पैर से पीछे बांधना। दोनों हाथ आपस में बांधकर लटका देना, नाखुन में सुई चुभाना, घी पिलाकर धूप या आग के पास बैठाना। जाड़े की रात में गीले विस्तर पर सुलाना। वह कहता है कि माता-पिता को गाली देने वाले की जिह्वा काट लेनी चाहिए। राजा अथवा राज्य के भेद खोलने वाले को भी यदि दण्ड दिया जाना चाहिए।

प्राणदण्डः- कौटिल्य ने विभिन्न अपराधों के लिये प्राणदण्ड का भी प्रावधान किया है। यदि झगड़े में किसी की मृत्यु हो गई हो तो दूसरे को प्राणदण्ड दे दिया जाए। बलात्कार करने तथा जीभ काटने वाले , सेंध लगाकर चोरी करने, हाथी, घोड़े तथा रथ को नुकसान पहुंचाने वाले को भी मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए। माता-पिता ,पुत्र भाई, आचार्य के हत्यारे को भी यही दण्ड दिया जाना चाहिए। अपने पति, पुत्र, गुरू को विष देने वाली स्त्री को गाय से कुचलवा कर मारा जाये। ब्राहमणी के साथ व्याभिचार करने वाले शूद्र को जिंदा जला दिया जाए। रानी के साथ व्याभिचार करने वाले को जीवित भून दिया जाय।

2. आर्थिक दण्डः- कौटिल्य ने आर्थिक दण्ड को तीन भागों में बांटा हैः-

1. प्रथम साहस दण्ड
2. मध्यम साहस दण्ड
3. उत्तम साहस दण्ड

प्रथम साहस दण्डः- प्रथम साहस दण्ड में 48 से 96 पण तक का जुर्माना लगाने की व्यवस्था की गई है।

मध्यम साहस दण्ड:- मध्यम साहस दण्ड को दो सौ से पांच सौ पण तक की जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

उत्तम साहस दण्डः- इसमें पांच सौ से 1 हजार पण तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

कारागार अथवा जेलः- कौटिल्य ने अपराधियों के लिये जेल की व्यवस्था की है। उसकी मान्यता है कि यदि कोई ब्राहमण राज्य के विरूद्ध षणयंत्र करे तो उसे आजीवन कैद में डाल देना चाहिए। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि न्यायधीशों तथा समाहार्ता से सजा जाये लोगों को कारागृह में रखना चाहिए। कारागृह में स्त्री पुरूष के लिये अलग-अलग स्थान होना चाहिए। कारागार की पर्याप्त सुरक्षा होनी चाहिए।

कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों को मुक्त करने की व्यवस्था की। वह कौटिल्य का मानवीय दृष्टिकोण था। उसने आगे स्पष्ट किया है कि विजय पर राजकुमार के राज्याभिषेक के समय, राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए।

राज्य अधिकारियों के लिए दण्डः- कौटिल्य का मत था कि प्रत्येक राज्य अधिकारियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी नियमित आय का कम दिखाता है तो वह राजधर्म का अपहरण करता है। उसकी अक्षमता, अयोग्यता से यदि यह कमी होती है तो उसे उसी क्रम में दण्डित करना चाहिए। यदि कोई अधिकरी राजकोष में अधिक धन जमा कराता है तो उसकी भी जांच करा कर उसको दण्डित करना चाहिए क्योंकि उसकी वसूली प्रजा को प्रताड़ित कर हुई होगी। यदि अधिकारी ने धन का गबन करते हुए जमा नहीं किया है तो उसे कठोर दण्ड मिलना चाहिए।

वेश्यावृत्ति के लिये दण्डः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि यदि कोई पुरूष कामना रहित महिला से शारीरिक संबंध बनाता है तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए। राजा की सेवा में नियुक्त गणिका को प्रताड़ित करने वाले व्यक्ति को बहत्तर हजार पण दण्ड देना चाहिए। राजा की आज्ञा पर कोई वैश्या यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाने से इंकार कर दे तो उसे 1 हजार कोड़े लगवाये जाने चाहिए। पूरी रात का शुल्क ले बहाना बनाने पर शुल्क का आठ गुना दण्ड लिया जाना चाहिए।

२.गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य ने गुप्तचर को प्रशासन को महत्वपूर्ण हिस्सा माना था। उसकी मान्यता थी कि बगैर प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था के एक सुरक्षित, प्रगतिशील राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही गुप्तचर व्यवस्था पर अत्याधिक बल रहा है। रामायण तथा महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गुप्तचर व्यवस्था को स्थापित किया। उसने गुप्तचरों के प्रकार, कार्य तथा भूमिका का विस्तृत वर्णन किया। उसने दो प्रकार के गुप्तचर बतायेः-

1. स्थायी गुप्तचर

2. भ्रमणशील गुप्तचर

स्थायी गुप्तचर:-कौटिल्य ने स्थाई गुप्तचरों को पांच भागों में बांटा हैः-

कापरिक गुप्तचरः- दूसरों के रहस्य को जानने वाला एवं दबंग किस्म का गुप्तचर होता है। यह सामान्यतः विद्यार्थी की वेशभूषा में रहता है।

उदास्थित गुप्तचरः- यह सन्यासी रूप में रहने वाला बुद्धिमान तथा सदाचारी व्यक्ति होता है।

गृहपलिक गुप्तचरः- गरीब किसान के वेश में रहने वाला एक बुद्धिमान व्यक्ति होता है।

वैदेहक:- गरीब व्यापारी के वेश में बुद्धिमान गुप्तचर को वैदेहक कहा जाता है।

तापस गुप्तचरः- जीविका के लिये सिर के बाल साफ कराये अथवा जहां रखे राजा का कार्य करने वाला व्यक्ति तापस गुप्तचर कहलाता है। ये सामान्यतः विद्यार्थियों के साथ नगर के पास आश्रम बना कर रहते है।

भ्रमणशील गुप्तचरः- ये एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर कार्य करते है अतः इन्हें भ्रमणशील अथवा संचार गुप्तचर कहते है।

इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैः-

सत्री गुप्तचरः- ये राजा के संबंधी नहीं होते परन्तु इनका पालन राजा के लिये आवश्यक होता है। ये वशीकरण, धर्मशास्त्र, नाचने गाने, ज्योतिष में अति पारंगत होते है।

तीक्ष्ण गुप्तचरः- ये वे गुप्तचर होते है जो धन के लिये बड़े जोखिम उठा लेते है। वे हाथी, बाघ, सांप आदि से भिड़ जाते है। इन्हें तीक्ष्ण गुप्तचर कहते है।

रसद गुप्तचरः- अपने निकट संबंधियों से संबंध न रखने वाला, कठोर एवं क्रूर स्वभाव के व्यक्ति को रसद (विष देने वाला) गुप्तचर कहा जाता है।

परिव्राजिका गुप्तचरः-धन की इच्छुक ऐसी स्त्री जो अमात्यों के घर जाती हो, दबंग हो, बाहमणी हो तथा रनिवास में सम्मान हो, को परिव्राजिका गुप्तचर कहा जाता है।

उभयवेतन भोगी गुप्तचरः- यह दोहरा वेतन पाने वाले , दूसरे राज्यों की गतिविधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर होते है। ये दूसरे राज्य में जा नौकरी करते है और दोहरा वेतन लेते है।

विषकन्याः- यह वह स्त्री थी जो विष का सेवन कर पाली जाती थी। इसे राज्य हित में शत्रु के पास भेजा जाता था जहां वह अपने सौन्दर्य, यौवन, हावभाव से शत्रु को भोग के लिये तैयार कर लेती थी। यही शत्रु के विनाश का कारण बनता था।

गुप्तचरों के कार्यः- कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्य निम्न बताये हैः-

1.गुप्तचर को उच्चाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों के आचरण का पता लगाकर राजा को सूचित करना चाहिए।

2.यदि कोई कर्मचारी विद्रोही प्रवृति का है तो उसकी सूचना तत्काल राजा को देनी चाहिए।

3.ऐसे षड़यत्रों की सूचना राजा को देना जो राजा के विरूद्ध प्रजा द्वारा रचे गये हो।

4.जनता के मनोभावों को पढ़ना तथा अंसतोष के कारणों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करना।

कौटिल्य के शब्दों में-''राज्य में कर्मचारियों एवं प्रजा की शत्रुता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन एवं मान द्वारा गुप्तचरों को संतुष्ट रखे।''उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

3.8 मण्डल सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में मण्डल सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों से संबंध संचालन को मंडल सिद्धान्त के नाम से तथा अन्य विदेशी राज्यों के साथ संबंध संचालन को षाडगुण्य नीति के नाम से अभिव्यक्त किया। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर आधारित है। यह राम राज्य में प्रचलित ''दिग्विजय सिद्धान्त'' पर आधारित है।

अर्थः- मण्डल का अर्थ ''राज्यों का वृत्त'' होता है। यह एक प्रकार की रणनीति है जिसमें विषय की आकांक्षा रखने वाला राज्य अपने चारों ओर के अन्य राज्यों को मण्डल मानता है।

मण्डल सिद्धान्त एक बारह राज्यों के वृत्तों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत मण्डल का केन्द्र ऐसा राज्य होता है जो पड़ोसी राज्य को जीतकर अपने में मिलाने का प्रत्यत्नशील रहता है। इसे वह विजिगीषु राजा कहता है। मंडल में बारह राज्य होते है- विजिगीषु, अरि, मित्र, मित्रमित्र, अरि मित्रमित्र, पाष्ठिग्राहा, आक्रंद, पार्ण्णिग्रालसार, आंक्रादासार, मध्यम और उदासीन।

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु मंडल के मध्य रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र मित्र और अरिमित्र ये पंाच राज्य विजीगीषु के सामने तथा पाष्णिग्राह, आंक्रद, पार्ण्णिग्राहासार और आंक्रादासार ये चार राज्य के पीछे रहते है। शेष दो राज्य मध्यम एवं उदासीन बगल में रहते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त के बारह राज्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता हैः-

1.विजिगीषु राज्यः- अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला विजिगीषु कहलाता है। इसका स्थान मंडल के केन्द्र में होता है।

2.अरिः- विजिगीषु के सामने वाला राज्य जो उसका शत्रु होता है अरि कहलाता हे।

3.मित्रः- अरि के सामने का राजा मित्र कहलाता है। यह विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता है।

4.अरिमित्रः- मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। यह अरि का मित्र और विजिगीषु का शत्रु होता है।

5.मित्रमित्रः- अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्रमित्र कहलाता है। मित्र राज्य का मित्र होता है। यही कारण है कि वह विजिगीषु राज्य के साथ भी उसकी मित्रता होती है।

6.अरि मित्रमित्रः- मित्रत्रमित्र के सामने वाला राज्य अरि मित्र-मित्र कहलाता है क्योंकि वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है। अतः अरि राज्य के साथ उसका संबंध मित्रता का रहता है।

7.पार्ष्णिग्राह (पीठ का शत्रु)- विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। अरि की तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु होता है।

8.आंक्रदः- पार्ष्णिग्राह के पीछे जो राज्य होता है उसे आंक्रद कहते है वह विजिगीषु का मित्र होता है।

9.पार्ष्णिग्राहासारः- आंक्राद के पीछे वाला राज्य का पार्ण्णिग्राहासार कहलाता है। यह पार्ण्णिग्राह का मित्र होता है।

10.आंक्रादासारः- पार्ण्णिग्राहासार के पीछे वाला राज्य आंक्रदासार कहताता है। यह आंक्राद का मित्र होता है।

11.मध्यमः- मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु और परिराज्य दोनों की सीमा से लगा होता है। दोनों से शक्तिशाली होने के कारण यह दोनों की सहायता भी करता है। जरूरत पड़ने पर यह दोनों से अलग-अलग मुकाबला भी करता है।

12.उदासीनः- राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि, मध्यम इन तीनों से परे पर होता है। यह शक्तिशाली होने के कारण तीनों से मुकाबला भी कर सकता है।

उक्त बारह राज्यों का समूह राज्य मण्डल कहलाता है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि भौगोलिक आधार पर कौन मित्र तथा शत्रु हो सकते है।

मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषण:- कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त एक व्यवहारिक एवं दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्य के चारों ओर बनने वाले मण्डल (दूसरे राज्यों के घेरा) का विश्लेषण किया है। उसके मण्डल सिद्धान्त की प्रमुख तत्व निम्न हैः-

1.कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त 12 राज्यों के एक केन्द्र की कल्पना करता है।

2.मण्डल सिद्धान्त में राज्यों को विशेष नाम एवं विशेष प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

3.कौटिल्य के अनुसार यह संख्या घट बढ़ सकती है।

4.कौटिल्य के अनुसार मध्यम एवं उदासीन राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की शक्ति लगभग समान है।

5.कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु तथा उसके पड़ोसी का मित्र होता है।

6.उसकी मान्यता है कि राज्य को पड़ोसी राज्य से सतर्क रहते हुए अपना गठबंधन बनाना चाहिए।

7.यह शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित है। यह राज्यों के आपसी सहयोग पर आधारित है।

कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार स्थापित किया गया था परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में जिसमें भूमण्डलीकरण का दौर है तथा सैनिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति का महत्व बढ़ गया है , प्रांसगिक नहीं रह गया है। इसके बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसकी यह महत्वपूर्ण देन है।

3.9 षाड.गुण्य नीति

कौटिल्य ने पड़ोसी देशों के साथ व्यवहार के लिये 6 लक्षणों वाली नीति अपनाने पर बल दिया। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी इसके लक्षण मिलते है। मनु के विचारों में तथा महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि विदेश नीति का निर्धारण इन छः गुणों के आधार पर करना चाहिए। कौटिल्य ने षड़गुण्य नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -''उनमें दो राजाओं का मेल हो जाना संधि, शत्रु का अपकार करना विग्रह ,उपेक्षा करना, आसन हमला करना यान आत्म सर्मपण करना संश्रय, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।''

षाड़गुण्य नीति का व्यवहारिक पक्षः- कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति का विकास व्यवहारिक आधार पर किया। कौटिल्य यह जानता था कि राजा अथवा राज्य को कई बार ऐसे अवसर देखने पड़ते है जब उनके सामने की चुनौती बहुत शक्तिशाली तथा कई बार चुनौती बेहद कमजोर होती है। ऐसे में राजा को परिस्थितियों के अनुसार नीति बनानी चाहिए तथा कमजोर होने पर विग्रह कर लेना चाहिए। यदि दोनों समान स्थिति में हैं तो आसन को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि राजा स्वयं को सक्षम एवं तैयार समझता है तो उसे यान (चढ़ाई) का सहारा लेना चाहिए। समय, परिस्थितियों के अनुसार नीति में परिवर्तन करके राष्ट्रहित को साधना चाहिए। कौटिल्य की मान्यता थी कि समय के साथ षाड़गुण्य में परिवर्तन किया जाना चाहिए। कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति इस प्रकार हैः-

1. संधिः- कौटिल्य के षड़गुण्य नीति का पहला एंव महत्वपूर्ण तत्व है। कौटिल्य का मत है कि यह दो राजाओं के मध्य हुआ समझौता है। यह राजा के द्वारा किया गया उपक्रम है जिसका उद्देश्य अपने को बलशाली बनाना तथा शत्रु को कमजोर करना है। कौटिल्य ने संधि के लिये निम्न आवश्यक परिस्थितियां बतायी हैः-

1. यदि राजा समझता है कि इससे उसके हित सिद्ध होंगे तथा शत्रु को हानि होगी।

2. शत्रु पक्ष के लोगों को कृपा दिखाकर अपने में शामिल करना।

3. शत्रु के साथ संधि कर उसका विश्वास हो जाये तो गुप्तचरों और विष प्रयोग से शत्रु का नाश करना।

4. उत्तम कार्यों के साथ शत्रु के उत्तम कार्यों से लाभ प्राप्त करना।

संधि के प्रकारः-कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख किया है। इसमें से कुछ प्रमुख संधि इस प्रकार हैः-

हीन संधिः- हीन संधि एक विशेष प्रकार की संधि है जो बलवान राजा के साथ एक कमजोर राजा अपनी सुरक्षा और हित सवंर्धन के लिये करता है।

दंडोपनत संधिः- कौटिल्य ने इसके तीन प्रकार बताये है-

अमिष संधिः- जब पराजित राजा विजयी राजा के समक्ष अपनी सेना, धन के साथ सर्मपण कर दे तो उस संधि का अमिष संधि कहते है।

पुरूषांतर संधिः- अपने सेनापति तथा राजकुमार को विजयी राजा को सौंपकर जो संधि की जाती है उसे पुरूषंकर संधि कहते है।

अदृश्य पुरूष संधिः- यह एक विशेष संधि होती है जिसमें यह निश्चित होता है कि विजयी राजा के हित के लिये पराजित सेना या राजा उपक्रम करेगा। यह संधि अदृश्य पुरूष संधि कहलाती है।

देशोपनत संधिः- देशोपनत संधि के निम्न प्रकार होते है-

परिक्रय संधिः-यह वह संधि होती है जिसमें बलवान राजा द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को धन देकर छोड़ा जाता है।

उपग्रह संधिः- यह वह संधि है जिसमें धनराशि निश्चित हो जाती है। यह किस्तवार धन अदा करने बल देती है।

सुवर्ण संधिः- सुविधानुसार निश्चित समय पर नियमित धनराशि देने की संधि सुवर्ण संधि कहलाती है।

कपाल संधिः- यह वह संधि हैं जिसमें संपूर्ण धनराशि तत्काल अदा करने की शर्त होती है। इसे कपाल संधि कहते है।

परिपणित देश संधिः- यह एक प्रकार की रणनीतिक संधि दो राज्यों के बीच होती है। इसमें दो राज्य रणनीति के तहत अलग-अलग दो राज्यों पर हमला करते है।

परिपणित काल संधिः- यह समय (काल) को आधार पर की गई संधि होती है। इसमें दो राज्य एक निश्चित समय पर कार्य करने पर सहमत होते है।

परिपणित कार्य संधिः- यह दो राज्यों के बीच एक निश्चित कार्य को करने का समझौता होता है। इसमें अपने-अपने हिस्से का कार्य तय हो जाता है।

मित्र संधिः- यह एक अलग प्रकार की संधि है जो दो मित्र राजाओं के बीच परस्पर हित पूर्ति के लिये की जाती है।

विषम संधिः- यह दो राज्यों के बीच दो अलग-अलग कार्यों को करने का समझौता है। इसमें एक राज्य हिरण्य का तथा दूसरा भूमि का कार्य करता है।

अति संधिः- यह विशेष संधि है जो उम्मीद से अधिक लाभ प्राप्त होने का प्रतीक है।

भूमि संधिः- यह दो राज्यों के बीच भूमि प्राप्त करने हेतु किया गया समझौता है। इसे भूमि संधि कहते है।

हिरण्य संधिः- यह हिरण्य लाभ के लिये की गई संधि है। यही कारण है कि इसे हिरण्य संधि कहते है।

विग्रह या युद्धः- यह राजा की महत्वपूर्ण नीति है। राजा को युद्ध का सहारा तभी लेना चाहिए जब उसे लगे कि शत्रु कमजोर हो गया है। कौटिल्य ने आगे स्पष्ट किया है कि यदि विजीगीषु राजा को यह लगे कि संधि और विग्रह दोनों से ही समान लाभ प्राप्त हो रहा है तो उसे विग्रह के स्थान पर संधि का सहारा लेना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के लिये एक शक्तिशाली सेना आवश्यक है। उसने सेना के चार अंग बताये है- पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े , रथ आदि। कौटिल्य उक्त चारों में हाथी पर अधिक बल देता था। सैनिकों की भर्ती के संबंध में वह वंशानुगत सैनिकों को अधिक महत्व देता था। वह क्षत्रियों को अधिकाधिक सेना में रखने का पक्षधर था। यदि संख्या कम हो तो वह वैश्य एवं शूद्रों को भी शामिल करने पर बल देता है।

कौटिल्य ने विजय प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के बल को आवश्यक बताया। ये नैतिक बल, अर्थ बल तथा कूटनीतिक बल है। इसमें से वह नैतिक बल अथवा उत्साह शक्ति पर अधिक बल देता था।

युद्ध के प्रकार - कौटिल्य ने युद्ध के निम्न प्रकार बताये है-

1. प्रकाश युद्धः- यह युद्ध किसी देश या समय को निश्चित कर किया जाता है।
2. लूट युद्धः- यह छोटी सेना को बड़ा दिखाकर किया गया युद्ध है। इसमें किलों को जलाना, लूटपाट करना, धावा बोलना आदि शामिल है।

3. तूष्णी युद्धः- विष या औषधि के माध्यम से शत्रु को नाश करने का तरीका तूष्णी युद्ध कहलाता है।

युद्ध का उपयुक्त समयः- कौटिल्य ने युद्ध की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उसने वर्ष के बारह महीनों का विश्लेषण कर उचित समय का वर्णन किया है। उनका मानना था कि युद्ध में अधिक समय लगने की स्थिति में पौष में, मध्यम समय लगने की स्थिति में चैत्र में, अल्प समय लगने पर जेठ युद्ध का श्रेष्ठ समय है। वह वर्षाकाल को युद्ध के लिये घातक मानता है। यदि भू-प्रदेश अनुकूल है तथा युद्ध टाला नहीं जा सकता तो इस समय भी युद्ध किया जा सकता है।

युद्ध का प्रबंध तथा नियमः- कौटिल्य युद्ध के व्यापक प्रबंध का पक्षधर था। वह मानता था कि युद्ध भूमि में सभी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबंध युद्ध से पूर्व कर लेना चाहिए। यह सभी प्रबंध युद्ध भूमि में तैयार रहना चाहिए। इसमें आवश्यक औषधि सामग्री, वैद्य, खाने-पीने की सामग्री , रसोइयों तथा सैनिकों को खुश करने वाली महिलायें भी शामिल है। कौटिल्य युद्ध मैदान के कुछ नियम तय करता है। उसकी मान्यता है कि युद्ध में घायल सैनिकों, भागते सैनिकों तथा आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत एवं गिरे हुए मनोबल वाले सैनिकों को भी नहीं मारना चाहिए।

विजयी राजा के प्रकारः- कौटिल्य ने विजीगीषु राजा के तीन प्रकार बताये है-

1. धर्मविजयीः- धर्मविजयी गौरव एवं प्रतिष्ठा के लिये विजय प्राप्त करना चाहता है।वह शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाता है।

2. लोभ विजयीः- लोभ विजयी वह राजा होता है जो भूमि एवं धन दोनों देने से संतुष्ट हो जाता है।

3. असुर विजयीः- असुर विजयी राजा वह होता है जो आसुरी प्रवृतियों से युक्त होता है। इसमें वह धन , भूमि, प्राण तथा स्त्री आदि को पाकर ही संतुष्ट होता है।

यान -

यान का अर्थ होता है आक्रमण। इस नीति को तभी अपनाया जाता है जब यह लगे कि उसकी सैनिक शक्ति मजबूत है तथा बिना आक्रमण किये शत्रु को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में यान का व्यापक वर्णन किया है।

आसन या तटस्थताः- यह वह अवस्था है जिसमें उचित समय की प्रतीक्षा में राजा चुपचाप तटस्थ होकर बैठा रहता है। यह अपने को मजबूत करते हुए शत्रु पर आक्रमण करने के साही समय की प्रतीक्षा है। कौटिल्य ने आसन के दो प्रकार बताये हैः-

1. विग्रह आसन

2. संघाय आसन

विग्रह आसनः- जब विजीगीषु(विजयी) और शत्रु दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते है तथा परस्पर एक दूसर को नष्ट करने की शक्ति न रखते हो तो कुछ काल युद्ध कर चुप बैठ जाते है।

संधाय आसन

जब दोनों राजा एक संधि कर चुपचाप बैठ जाते है तो उसे संधाय आसन कहते है।

संश्रयः

यह एक प्रकार का आश्रय या शरण है जो कमजोर राज्य बलवान राजा के यहां लेता है। यह तभी होता है जब राजा बेहद कमजोर हो तथा अपनी रक्षा करने में में असमर्थ हो।

द्वैधीभावः

द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का आशय एक राज्य के प्रति संधि तथा दूसरे के प्रति विग्रह नीति को अपनाने की नीति है। यह राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से सहायता लेने तथा दूसरे से लड़ने की नीति है। वह विशेष परिस्थितियों में विशेष नीति अपनाने का पक्षधर था। विदेश नीति के संचालन में वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की नीति के अपनाने का पक्षधर था। इन चारों में वह साम (समझाना) दाम (पैसे देना) से श्रेष्ठ है तथा भेद (फूट डालना) दण्ड (युद्ध से) श्रेष्ठ है।

षाड़गुण्य नीति का मूल्यांकनः- कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति का निम्न आधार पर आलोचना की जाती हैः-

1.आधुनिक समय में यह विदेश नीति अनुपयुक्त है। इसे व्यवहारिक नहीं माना जा सकता है।

2.इसमें अनैतिक माध्यम, छल, धोखा, आदि पर बहुत बल दिया जाता है।

3.कौटिल्य भूभाग विस्तार का पक्षधर था। वह इसके विस्तार के लिये सदैव प्रयत्नशील रहने का हिमायती था। इसमें हिंसा एवं रक्तपात की संभावना बढ़ जाती है।

मूल्याँकन

कौटिल्य भारतीय राजदर्शन का जनक है। कुछ पाश्चात्य विचारक भी यह मानते है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक कौटिल्य है। राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य के महत्व को हम निम्न बिन्दुओं के द्वारा दर्शा सकते हैः-

1.कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में पूर्व भारतीय विद्वानों भारद्वाज, मनु, वृहस्पति के विचारों का मिश्रण सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया।

2.कौटिल्य पहला भारतीय विचारक था जिसने राजनीति को धर्म, नैतिकता से अलग एक स्वतन्त्र विषय के रूप में न केवल देखा वरन् उसकी व्याख्या भी की।

3.कौटिल्य ने राजनीति का व्यवहारिक एवं यर्थाथवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। उसने केन्द्रीकृत एवं सुदृढ़ शासन की वकालत की। अपने सिद्धान्तों के आधार पर कोई मौर्य वंश की स्थापना की।

4.कौटिल्य ने राज्य के कार्यों का जो वर्णन किया है उसमें लोककल्याणकारी राज्य के बीच निहित दिखायी पड़ते है।

5.कौटिल्य राजतंत्र का समर्थक है परन्तु उसका राजा एक योग्य ईमानदार और नियन्त्रित राजा है। वह कुछ हद तक प्लेटो के दार्शनिक राजा की तरह है।

6.कौटिल्य ने व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसने प्रशासन को 18 भाग में विभाजित किया है। उसका प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण उसकी महत्वपूर्ण देन है।

7.कौटिल्य ने कानून के शासन पर बल दिया। कानून अनुभव तथा आध्यात्म पर आधारित है।

8.कौटिल्य ने न्याय के लिये स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नयाय विभाग की स्थापना पर बल दिया। उसने न्यायधीशों की नियुक्ति एवं कार्यों की स्पष्ट व्याख्या की।

9.कौटिल्य ने दण्ड की व्यापक व्यवस्था की। उसने दण्ड का स्वरूप, दण्ड के निर्धारण सिद्धान्त, प्रकार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उसका दण्ड सिद्धान्त पूर्णतः व्यवहारिक है।

10.कौटिल्य ने राजपूत तथा राज्य की सीमा के अंदर गुप्तचरों के ऊपर व्यापक वर्णन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह मण्डल सिद्धान्त के द्वारा विदेश नीति संचालन तथा राष्ट्र की सीमा को सुरक्षित रखने तथा विस्तार की नीति को स्पष्ट करता है।

11.उसने धर्म एवं राजनीति पर विचार किया। आंतरिक एवं विदेशनीति धर्म पर आधारित होनी चाहिए। उसने राजनीति को धर्म आधारित बताया परन्तु कुछ स्थानों पर वह उसे स्वतन्त्र भी रखता है। वह धार्मिक संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है।

3.11 कौटिल्य एवं मैकयावेली

कौटिल्य ने पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' तथा मैकियावेली ने अपनी पुस्तक ''दि प्रिंस'' में अपने राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया है। कुछ पाश्चात्य विचारक कौटिल्य को मैकियावेली का अग्रदूत मानते है तथा उसकी तुलना मैकियावेली से करते है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में अनेक स्थानों पर समानता दिखती है तथा अनेक स्थान पर असमानता दिखती है। मैकियावेली से समानता वाले प्रमुख तत्व निम्न है-

1. दोनों राजा को असीमित शक्तियाँ देने के पक्षधर है। वे राजा को सर्वोच्च निर्णायक मानते है।

2. दोनों ही राज्य की एकता एवं विस्तारवादी नीति के समर्थक हैं।

3. दोनों ने युद्ध को राज्य की विस्तार एवं विदेश नीति का प्रमुख आधार माना है।

4. दोनों ही कठोर राष्ट्रवादी थे। वे राज्य की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे।

5. दोनों ही यर्थाथवादी थे। दोनों के राजनीतिक सिद्धान्त यर्थात पर आधारित थे।

6. दोनों ही विदेश नीति पर बड़ा बल दिया। दोनों ही पड़ोसी राज्य को शंका से देखते हैं।

7. दोनों ने गुप्तचर पर विशेष बल दिया। दोनों गुप्तचरों को राज्य की आंख एवं कान माना। दोनों ने गुप्तचरों का विस्तृत विवेचन किया है।

8. दोनों ने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिकता के उल्लघंन को सही ठहराया है। इसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को सही ठहराया है।

कौटिल्य और मैकियावेली में अंतरः- कौटिल्य एवं मैकियावेली में कुछ बिन्दुओं पर अंतर दिखता हैः-

1.कौटिल्य एक आचार्य था। वह सादा एवं संयमित जीवन का समर्थक था। वही मैकियावेली न तो आचार्य था और न ही सन्यासी था।

2.कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात मौर्य वंश की स्थापना के बाद की वहीं मैकियावेली ने इसकी रचना अपने जीवन के निराशाजनक पल में की थी। उसने प्रिंस की रचना तब की जब वह राजनीतिक रूप से निष्कासित हो चुका था।

3.प्रिंस केवल राजनीति से सम्बन्धित है जबकि "अर्थशास्त्र" राजनीति तथा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ी है।

4.मैकियावेली मानव के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण रखता है जबकि कौटिल्य का दृष्टिकोण निराशाजनक नहीं है।

5.मैकियावेली का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है जबकि कौटिल्य का उद्देश्य व्यापक राज्य एवं शासन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है।

6.कौटिल्य परम्परावादी है जबकि मैकियावेली आधुनिक है। कौटिल्य राजतन्त्र का समर्थन करता है जबकि मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया है।

7.कौटिल्य ने विदेश नीति पर प्रकाश डाला है। इसके लिये राजदूत आदि का व्यापक वर्णन किया है। जबकि मैकियावेली में इसका अभाव है।

3.12 कौटिलय एवं यूनानी विचारक

कौटिल्य की पृष्ठभूमि भारतीय थी जबकि यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो की पृष्टभूमि अलग थी। इसके बावजूद दोनों के बीच कुछ समानतायें दिखायी पड़ती है।

1. दोनों ही विचारकों ने राज्य को एक शरीर के रूप में है ।

2. दोनों ने राज्य को आवश्यक बताया। उनका मानना था कि राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

3. दोनों ही राजतन्त्रों के समर्थक है। दोनों का राजा दाशर्निक या योग्य राजा है। उनकी मान्यता उसकी योग्यता में है।

4. दोनों की राज्य को व्यक्ति के विकास का माध्यम मानते है।

असमानतायें -प्लेटो एवं कौटिल्य में निम्न बिन्दुओं पर असमानतायें दिखायी पड़ती हैः-

1.प्लेटो आदर्शवादी विचारक है तथा उसका दृष्टिकोण काल्पनिक है। वहीं कौटिल्य यर्थाथवादी तथा उसका दृष्टिकोण व्यवहारिक है।

2.प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना कर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करता है वहीं कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" में राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना है।

3.प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये दार्शनिक शासक तथा साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया जबकि कौटिल्य ने साम्यवाद एवं आदर्श राज्य की स्थापना पर बल नहीं दिया।

4.प्लेटो ने स्त्री-पुरूष समानता पर बल दिया परन्तु कौटिल्य ने राजकार्यों में स्त्री सहभागिता पर बल नहीं दिया है।

5.कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में राज्य के गठन, विदेश नीति, गुप्तचर व्यवस्था, वैदेशिक नीति का व्यापक वर्णन है जबकि प्लेटो के दर्शन में इसका अभाव है।

स्वमूल्याकंन हेतु प्रश्नः-

1. कौटिल्य की पुस्तक का नाम क्या था ?
2. कौटिल्य ने किस राजवंश की स्थापना की ?
3. कौटिल्य किसका महामंत्री था ?
4. कौटिल्य के विचार निम्न में से किससे मेल खाते है?

I. आगस्ताइन II. मिल III. मार्क्स IV. मैकियावेली

5. निम्न में से किसने मण्डल सिद्धान्त दिया?

I. कौटिल्य II. प्लेटो III. अरस्तू IV. मार्क्स

6. षाड़गुण्य नीति किसकी देन है?

I.कौटिल्य II. प्लेटो III. सिसरो IV. आगस्टाइन

3.13 सारांश

कौटिल्य एक यर्थाथवादी प्राचीन भारतीय विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वह राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त देता है जो यूनानी विचारकों के आंगिक सिद्धान्त की तरह दिखता है। कौटिल्य राज्य का प्रशासन कैसे चलाया जाए, राजा को किन नियमों का पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करता है।

कौटिल्य अपनी पुस्तक में विदेश नीति के संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह अपने मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति के द्वारा विदेश नीति तथा पड़ोसी राज्य के साथ संबंध संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह राजदूत की नियुक्ति, गुप्तचरों की नियुक्ति , राजा की दिनचर्या एवं उस पर नियन्त्रण, दण्ड, न्याय आदि विषयों का विस्तृत विवेचन देता है।

कौटिल्य का विभिन्न विषयों पर दिया गया सम्पूर्ण विवेचन यर्थातवादी है। वह एक मजबूत राज्य का निर्माण करना चाहता हैं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेना की मजबूती तथा विस्तारवादी नीति की वकालत करता है। वह सदैव पड़ोसी देश पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। इसके लिए वह देश के अन्दर मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था तथा गुप्तचरों के माध्यम से सूचना संकलन पर जोर देता है। वह विस्तारवादी नीति का समर्थक था। वह राष्ट्रहित की पूर्ति के लिये साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपनाने का पक्षधर था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य प्राचीन काल का पहला ऐसा विचारक था जिसने राजनीति पर इतना व्यापक और उद्देश्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसने शासन, प्रशासन एवं विदेश नीति संचालन पर दिये विचार सैकणों वर्ष गुजर जाने के बाद भी अत्यंन्त प्रांसगिक है। उसकी कृति अर्थशास्त्र उसकी मानवता को दी गई अमूल्य देन है।

3.14 शब्दावली

3.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अर्थशास्त्र 2.मौर्यवंश 3. चन्द्रगुप्त मौर्य 4.मैकियावेली 5.कौटिल्य 6. कौटिल्य

3.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

3.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक विचारों पर निबन्ध लिखिये।
2. कौटिल्य के सांप्राग सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
3. कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त क्या है? उसका विस्तृत विवेचन कीजिये।
4. एक राजनीतिक विचारक के रूप में कौटिल्य की प्रांसगिकता को स्पष्ट करते हुए निबंध लिखिये।
5. अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था पर निबंध लिखिये।

इकाई 4 : राजा राम मोहन राय

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 राजा राम मोहन राय का जीवन परिचय
4.3 राजा राम मोहन राय की रचनाएँ
4.4 राय के विचारों पर प्रभाव
4.5 राजा राम मोहन राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व
4.5.1 व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी धारणा
4.5.2 प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन
4.5.3 न्याय व्यवस्था पर विचार
4.5.4 प्रशासन तथा राजस्व संबंधी विचार
4.5.5 मानववाद तथा विश्व बंधुत्व पर विचार
4.5.6 शिक्षा पर विचार
4.6 राजा राम मोहन राय के सामाजिक विचार
4.7 राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचार
4.8 राजा राम मोहन राय के आर्थिक विचार
4.9 राजा राम मोहन राय का योगदान
4.10 सारांश
4.11 शब्दावली
4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.15 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

राजा राम मोहन राय (22 मई, 1772 - 27 सितंबर,1833) का नाम उन चुनिंदा लोगों में लिया जाता हैं जिन्होंने जिनके विचारों और कार्यों ने भारत के विकास में अहम भूमिका निभाई। राजा राम मोहन राय को भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत और आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। भारतीय सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान है। वे ब्रह्म समाज के संस्थापक, भारतीय भाषायी प्रेस के प्रवर्तक, जनजागरण और सामाजिक सुधार आंदोलन के प्रणेता तथा बंगाल में नव- जागरण युग के पितामह थे। उन्होंने पत्रकारिता के साथ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम दोनों क्षेत्रों को गति प्रदान की। उनके आन्दोलनों ने जहाँ पत्रकारिता को चमक दी, वहीं उनकी पत्रकारिता ने आन्दोलनों को सही दिशा दिखाने का कार्य किया। राजा राममोहन राय रूढ़िवाद और कुरीतियों के विरोधी थे लेकिन संस्कार, परंपरा और राष्ट्र गौरव उनके दिल के करीब थे । राजा राममोहन राय सिर्फ सती प्रथा का अंत कराने वाले महान समाज सुधारक ही नहीं, बल्कि एक महान दार्शनिक और विद्वान भी थे। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने राम मोहन राय को 'भारत में आधुनिक युग के उद्घाटनकर्त्ता के रूप में भारतीय इतिहास का एक चमकदार सितारा' कहा है।

4.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को राजा राम मोहन राय के विचारों से परिचय कराना है। इसमें राजा राम मोहन राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के साथ –साथ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना, व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी धारणा, प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन , कानून, अभिसमय तथा नैतिकता संबंधी विचार, न्याय व्यवस्था पर विचार , प्रशासन तथा राजस्व संबंधी विचार , मानववाद तथा विश्व बंधुत्व पर विचार आदि से सम्बंधित है , इन पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको -

i . राजा राम मोहन राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।

ii. साथ ही आप राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचारों के बारे में जान सकेंगे।

iii. आप राजा राम मोहन राय के सामाजिक विचारों के बारे में जान सकेंगे तथा

iv. राजा राम मोहन राय के योगदान से भी आप अवगत होंगे।

4.2 राजा राम मोहन राय का जीवन परिचय

भारतीय पुनर्जारण के अग्रदूत राजा राम मोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 को बंगाल के हूगली जिले के राधानगर में हुआ था। उनके पिता का नाम रामकंतो राय और माता का नाम तैरिनी था। राम मोहन राय का परिवार वैष्णव था, जो कि धर्म संबंधी मामलों में बहुत कट्टर था। राजा राम मोहन राय की प्रारंभिक शिक्षा फारसी और अरबी भाषाओं में पटना में हुई, जहाँ उन्होंने कुरान, सूफी रहस्यवादी कवियों के काम तथा प्लेटो और अरस्तू के कार्यों के अरबी अनुवाद का अध्ययन किया था। बनारस में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और वेद तथा उपनिषद पढ़े। सोलह वर्ष की आयु में अपने गाँव लौटकर उन्होंने हिंदुओं की मूर्ति पूजा पर एक तर्कसंगत आलोचना लिखी। वर्ष 1803 से 1814 तक उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के लिये वुडफोर्ड और डिग्बी के अंतर्गत निजी दीवान के रूप में काम किया। वर्ष 1814 में उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और अपने जीवन को धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों के प्रति समर्पित करने के लिये कलकत्ता चले गए।

राजा राम मोहन राय की दूरदर्शिता सचमुच ही सराहनीय थी। 1817 ई0 में डेविड हेयर नामक अंग्रेज के साथ मिलकर भारत में शिक्षा की उन्नति हेतु कार्य किया। सर एडवर्ड हाइडईस्ट को हिन्दू कॉलेज की स्थापना मे मदद की। यह कॉलेज 1817 ई0 में कलकत्ता में खोला गया जो अब 'प्रेसिडेन्सी कॉलेज' के नाम से प्रसिद्ध है। राजा राम मोहन राय ने अपने आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए 1822 में एक विद्यालय खोला जिसका नाम 'एंग्लो-हिन्दू स्कूल' था। उनका विचार था कि विद्यायल में अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई होगी, शिक्षा की पाश्चात्य प्रणाली अपनायी जायेगी और धर्म एवं नीति संबंधी शिक्षा दी जाएगी। इस विद्यालय में छात्रों की मातृ-भाषा अर्थात् बंगला भाषा में विज्ञान एवं अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। छात्रों की वाद-विवाद गोष्ठियाँ होती थी। उसमें मातृ भाषा में ही बोलने को प्रोत्साहित किया जाता था।

अंगेजी शिक्षा के विस्तार के कारण लोग वेद एवं उपनिषद आदि की चर्चा छोड़ न दें, इस उद्देश्य से उन्होंने 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की। देश में कुछ लोग राजा राम मोहन राय के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तन का विरोध करते थे। राजा राम मोहन राय ने देश की वास्तविक उन्नति के लिए विश्व से संबंध स्थापित करके कदम से कदम मिलाकर चलना पड़ेगा इसके लिए शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रणाली को अपनाना जरूरी है, परंतु उन्होंने कभी भी संस्कृत शिक्षा की अवहेलना नहीं की। उनका मानना था कि जब तक अंधविश्वास और जाति प्रथा पर प्रहार नहीं होगा, तब तक हिन्दू समाज प्रबलता के साथ खड़ा नहीं हो सकता. हिन्दुत्व के प्रचार- प्रसार एवं सामाजिक संरचना में विकार- हीन गतिशीलता लेन के लिए उन्होंने सन 1828 में ब्रह्म समाज

की स्थापना की। राजा राम मोहन राय के विचारोँ से प्रभावित होकर देवेंद्र नाथ टैगोर ने 1843 मेँ ब्रह्म समाज की सदस्यता ग्रहण की।

राजा राम मोहन राय को मुगल सम्राट अकबर द्वितीय ने 'राजा' की उपाधि दी थी। राजा राम मोहन राय को अनेक भाषाओं का ज्ञान था जैसे कि अरबी, फारसी, अंग्रेजी और हिब्रू का, राजा राम मोहन राय का प्रभाव लोक प्रशासन, राजनीति, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में स्पष्ट था। राजा राम मोहन राय को कई इतिहासकारों द्वारा 'बंगाल पुनर्जागरण का पिता' माना जाता है। महज 15 साल की उम्र में राजा राम मोहन राय ने बंगाल में पुस्तक लिखकर मूर्तिपूजा का विरोध शुरू कर दिया था। राजा राम मोहन राय ने अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर गणित, भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान और दर्शन शास्त्र जैसे विषयों को पढ़ने के साथ-साथ वेदों और उपनिषदों को भी जीवन के लिए अनिवार्य बताया था।

राजा राम मोहन राय आधुनिक भारत के राजनीतिक-विचारक, समाज-सुधारक और 'ब्रह्म समाज' के संस्थापक के रूप में विख्यात हैं। उन्हें भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने मध्ययुगीन अंधविश्वासों और उनसे जुड़ी कुरितियों पर कड़ा प्रहार करके भारत को आधुनिक बनने की राह दिखाई। टैगोर के अनुसार ''राजा राम मोहन राय के हृदय और उतने ही उदार मन ने उन्हें 'पश्चिम' के संदेश को इस ढंग से अपनाने की प्रेरणा दी जिससे 'पूर्व' की गरिमा पर तनिक भी आँच न आए''।

4.3 राजा राम मोहन राय की रचनाएँ

राजा राम मोहन राय को बांग्ला , फारसी , अरबी , हिन्दी , संस्कृत और अंग्रेजी – इन छह भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। राय की कृतियों में मुख्यतः भारतीय दर्शन की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत की गई है और भारतीय समाज की समस्याओं पर विचार किया गया है। इनके अलावा, उन्होंने जो याचिकाएं, पत्र और चौपन्ने लिखे, वे उनके सामाजिक और राजनीतिक विचारों की अनूठी स्रोत्र सामग्री हैं। राजा राम मोहन राय की रचनाओं में प्रमुख है :

मुंडक उपनिषद (1819)
हिंदू धर्म की रक्षा (1820)
द प्रिसेप्टस ऑफ जीसस- द गाइड टू पीस एंड हैप्पीनेस (1820)
बंगाली व्याकरण (1826)
द यूनिवर्सल रिलीजन (1829)
भारतीय दर्शन का इतिहास (1829)
गौड़ीय व्याकरण (1833)

धर्म, शिक्षा, भाषा की उन्नति व प्रसार के लिए इन कृतियों का अत्यधिक महत्व समझा जाता है।

4.4 राय के विचारों पर प्रभाव

राजा राम मोहन राय हिब्रू और फारसी की सेमेटिक संस्कृति , वेदान्त और उपनिषदों की हिन्दू संस्कृति , तथा यहूदी और यूनानी – रोमन संस्कृति से भिन्न वैज्ञानिक , आर्थिक और जनहितवादी विचारधारा पर आश्रित पश्चिम की नई विद्या से भी भली – भांति परिचित थे । राम मोहन राय पश्चिमी आधुनिक विचारों से बहुत प्रभावित थे और बुद्धिवाद तथा आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल देते थे। राम मोहन राय की तात्कालिक समस्या उनके मूल निवास बंगाल के धार्मिक और सामाजिक पतन की थी। उनका मानना था कि धार्मिक रूढ़िवादिता सामाजिक जीवन को क्षति पहुँचाती है और समाज की स्थिति में सुधार करने के बजाय लोगों को और परेशान करती है । राजा राम मोहन राय ने निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक सुधार, सामाजिक सुधार और राजनीतिक आधुनिकीकरण दोनों हैं। राम मोहन का मानना था कि प्रत्येक पापी को अपने पापों के लिये प्रायश्चित करना चाहिये और यह आत्म-शुद्धि और पश्चाताप के माध्यम से किया जाना चाहिये न कि आडंबर और अनुष्ठानों के माध्यम से। वह सभी मनुष्यों की सामाजिक समानता में विश्वास करते थे और इस तरह से जाति व्यवस्था के प्रबल विरोधी थे। राम मोहन राय इस्लामिक एकेश्वरवाद के प्रति आकर्षित थे। उन्होंने कहा कि एकेश्वरवाद भी वेदांत का मूल संदेश है राजा राम मोहन राय का मानना था कि जब तक महिलाओं को अशिक्षा, बाल विवाह, सती प्रथा जैसे अमानवीय रूपों से मुक्त नहीं किया जाता, तब तक हिंदू समाज प्रगति नहीं कर सकता।

4.5 राजा राम मोहन राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व

लॉक, ग्रोशियस तथा टॉमस पेन की भाँति राजा राम मोहन राय ने भी प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता को स्वीकार किया। उन्हें जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास था। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का समर्थन किया। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांतों को प्रचलित भारतीय लोक-संग्रह के आदर्श के ढाँचे के अंतर्गत रखा। अधिकारों और स्वतंत्रता के व्यक्तिवादी सिद्धांत के समर्थक होते हुए भी उन्होंने आग्रह किया कि राज्य को समाज-सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए कानून बनाने चाहिए। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के साथ सामाजिक उपयोगिता तथा मानव कल्याण की धारणाओं का संयोग कर दिया।

उनके अनुसार राजा को निर्बल तथा असहाय व्यक्तियों की रक्षा करनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य है कि वह जनता ककी सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्न करे। वे व्यक्ति की गरिमा के संरक्षण के पोषक थे। वे स्वतंत्रता, अधिकार, अवसर, न्याय आदि राजनीतिक वरदानों का सर्वोच्च मानते थे। वे राज्य के कार्य क्षेत्र को इन्ही दिशाओं में प्रेरित करने की आकांक्षा करते थे। उनके चिंतन में व्यक्ति और राज्य एक दूसरे के पूरक थे। राजा राम मोहन राय ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हुए उसकी स्वतंत्रता बल दिया। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे मूल्यवान निधि है और देखा जाय तो यह

मनुष्य के मनुष्यत्व की पहचान है। राय का कहना था कि भारत जैसे पिछड़े देश में शिक्षा का प्रसार और कानून का सुधार राज्य का दायित्व है। इस तरह राय ने उदारवाद की मान्यताओं के अनुरूप कल्याणकारी राज्य की पैरवी की। राय ने ब्रिटिश सरकार को जो याचिकाएं भेजीं, उनमें उन्होंने नागरिक स्वतंत्रताओं और व्यक्ति के अधिकारों जैसे, स्त्रियों और पुरूषों दोनों के लिए जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार, विचार, वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अंतरात्मा की स्वतंत्रता, कोई भी साहचर्य बनाने की स्वतंत्रता और शांतिपूर्ण और सांविधानिक तरीके से सरकार को चेतावनी देने, उसकी अवज्ञा और प्रतिरोध करने का अधिकार जैसे स्वतंत्रताओं और अधिकारों पर विशेष रूप से अपना ध्यान केंद्रित किया।

4.5.1 व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतंत्रता संबंधी धारणा

राजा राम मोहन राय ब्रिटिश प्रणाली की संवैधानिक सरकार द्वारा लोगों को दी गई नागरिक स्वतंत्रता से अत्यंत प्रभावित थे और उसकी प्रशंसा करते थे। वह सरकार की उस प्रणाली का लाभ भारतीय लोगों तक पहुँचाना चाहते थे। लॉक, ग्रोशियस तथा टॉमस पेन की भाँति राजा राम मोहन राय ने भी प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता को स्वीकार किया। उन्हें जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास था। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का समर्थन किया। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांतों को प्रचलित भारतीय लोक-संग्रह के आदर्श के ढाँचे के अंतर्गत रखा। अधिकारों और स्वतंत्रता के व्यक्तिवादी सिद्धांत के समर्थक होते हुए भी उन्होंने आग्रह किया कि राज्य को समाज-सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए कानून बनाने चाहिए। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के साथ सामाजिक उपयोगिता तथा मानव कल्याण की धारणाओं का संयोग कर दिया।

उनके अनुसार राजा को निर्बल तथा असहाय व्यक्तियों की रक्षा करनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य है कि वह जनता ककी सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्न करे। वे व्यक्ति की गरिमा के संरक्षण के पोषक थे। वे स्वतंत्रता, अधिकार, अवसर, न्याय आदि राजनीतिक वरदानों का सर्वोच्च मानते थे। वे राज्य के कार्य क्षेत्र को इन्ही दिशाओं में प्रेरित करने की आकांक्षा करते थे। उनके चिंतन में व्यक्ति और राज्य एक दूसरे के पूरक थे। राजा राम मोहन राय ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हुए उसकी स्वतंत्रता बल दिया। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे मूल्यवान निधि है और देखा जाय तो यह मनुष्य के मनुष्यत्व की पहचान है। राय का कहना था कि भारत जैसे पिछड़े देश में शिक्षा का प्रसार और कानून का सुधार राज्य का दायित्व है। इस तरह राय ने उदारवाद की मान्यताओं के अनुरूप कल्याणकारी राज्य की पैरवी की।

राय ने ब्रिटिश सरकार को जो याचिकाएं भेजीं, उनमें उन्होंने नागरिक स्वतंत्रताओं और व्यक्ति के अधिकारों जैसे, स्त्रियों और पुरूषों दोनों के लिए जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार, विचार, वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अंतरात्मा की स्वतंत्रता, कोई भी

साहचर्य बनाने की स्वतंत्रता और शांतिपूर्ण और सांविधानिक तरीके से सरकार को चेतावनी देने, उसकी अवज्ञा और प्रतिरोध करने का अधिकार जैसे स्वतंत्रताओं और अधिकारों पर विशेष रूप से अपना ध्यान केंद्रित किया।

4.5.2 प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन

राजा राम मोहन राय प्रेस एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महान समर्थक थे। उन्होंने निश्चय किया कि समाचार-पत्र द्वारा वे लोगों में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार करेंगे ताकि लोगों में समानता, भातृत्व और स्वाधीनता की भावना जगाई जा सके। उनका समाचार पत्र 'संवाद कौमुदी' बंगला और अंग्रेजी भाषा में और दूसरा समाचार पत्र 'मिरात-उल-अखबार' फारसी भाषा में प्रकाशित होता था।

राजा राम मोहन राय निर्भीक और निष्पक्ष समीक्षा के पक्षधर थे। उनका तर्क था कि प्रेस की स्वतंत्रता शासन और शासित दोनों के लिए हितकर है। शासन के लिए यह इसलिये लाभप्रद है कि उसे अपने शासन-नीति के बारे में जनता के विभिन्न विचारों का पता चल जाता है। इस प्रकार जनता शासकों की भूलों की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकती है। जनता के लिए प्रेस की स्वतंत्रता इसलिये हितकर है कि इससे ज्ञान का प्रसार होता है और मानसिक विचार में सहायता मिलती है। उन्होंने इस बात से इंकार कर दिया कि स्वतंत्रता प्रेस सरकार के विरूद्ध संगठित होने की स्वतंत्रता की मांग है। उनका कहना था कि समाचार-पत्र का उद्देश्य तो जनता और शासन के मध्य एक कड़ी का काम करना और पिछड़े हुए समाज को नई रोशनी देना है।

लेखन और अन्य गतिविधियों के माध्यम से उन्होंने भारत में स्वतंत्र प्रेस के लिये आंदोलन का समर्थन किया। जब वर्ष 1819 में लॉर्ड हेस्टिंग्स द्वारा प्रेस सेंसरशिप में ढील दी गई, तो राम मोहन राय ने तीन पत्रिकाओं- ब्राह्मणवादी पत्रिका (वर्ष 1821); बंगाली साप्ताहिक- संवाद कौमुदी (वर्ष1821) और फारसी साप्ताहिक- मिरात-उल-अकबर का प्रकाशन किया।

4.5.3 न्याय व्यवस्था पर विचार

राजा राम मोहन राय यह मानते थे कि न्याय की उपलब्धि में ही न्याय का औचित्य है। न्याय की उपलब्धि के लिए न्यायिक संस्थाओं, न्यायिक संगठन और न्यायिक प्रक्रिया का जन-कल्याणकारी होना आवश्यक है। राजा राम मोहनराय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने शासन और न्याय विभागों को पृथक करने की आवाज उठाई और ब्रिटिश संसद की विशिष्ट समिति के सम्मुख महत्वपूर्ण मसविदे प्रस्तुत किये। उन्होंने भारत में न्यायिक व्यवस्था, नागरिक अधिकारों, कानूनों आदि के संबंध में विभिन्न सुधारों का सुझाव दिया। शक्ति पृथक्करण उनके लिए अच्छे शासन का एक मूल सिद्धांत था। कलेक्टर के पद के साथ प्रबन्धकारिणी और न्यायिक शक्ति के सम्मिश्रण का उन्होंने जोरदार विरोध किया। न्यायिक प्रशासन की कुशलता

में सुधार के लिए राजा राममोहन राय ने इस बात पर बल दिया कि कानून की नजरों में सभी लोग समान होने चाहिए। पुरातन भारतीय व्यवस्था में प्रचलित न्याय पंचातय का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि उसी प्रकार जन-संबंद्ध संस्था द्वारा ही न्यायिक प्रणाली चलनी चाहिए। अवकाश प्राप्त और अनुभवी भारतीय विधि-विशेषज्ञों को जूरी का सदस्य बनाना चाहिए।

अपनी पुस्तक में उन्होंने निर्भीकता से न्यायिक प्रशासन का मूल्यांकन किया और भारत में न्यायिक व्यवस्था के स्वरूप के बारे में अपने विचार रखे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वे ही व्यक्ति न्यायिक अधिकारी बने जो निष्पक्ष, स्पष्ट और विवेक सम्पन्न तथा निरपेक्ष होकर शासन की हा इकाई के प्रति ईमानदार रह सके। उन्होंने मांग कि की उच्च सेवाओं का भारतीयकरण किया जाय। कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग किया जाय, भारतीय और यूरोपीय लोगों की न्यायिक समानता स्वीकार की जाए और मुकदमों की सुनवाई के लिए जूरी का गठन किया जाय।

राजा राम मोहन राय के विचार बैंथम के विचारों से मेल खाते थे। उनका मानना था कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए वरदान की तरह है भारतीय अधिक सभ्य व सुसंस्कृत हो जाए फिर बाद में आजादी हासिल कर लेंगे। ब्रिटिश शासन की विसंगतियों के विरुद्व अपनी आवाज बुलंद करते रहे। स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए वे शक्ति के पृक्करण के पक्ष में थे। वे ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के खिलाफ थे इसमें सुधार के लिए उन्होंने कुछ शर्तें रखी थी। 1833 में उन्होंने इंगलैंड की यात्रा की क्योंकि 1833 में कंपनी के चार्टर के नवीनीकरण की खबर सुनी थी। भारतीयों की दुर्दशा से अवगत कराने और कंपनी के दोषों को उजागर करने के लिए प्रथम भारतीय प्रतिनिधि के रुप में वे वहां गए। उनका भव्य स्वागत हुआ। आपने पेंशनर मुगल सम्राट के आवेदन पत्र को वहां प्रस्तुत किया। आप पहले भारतीय थे जिससे ब्रिटिश संसद सलाह लेती थी।

4.5.4 प्रशासन तथा राजस्व संबंधी विचार

राजा राम मोहनराय बंगाली ज़मींदारों की दमनकारी प्रथाओं की निंदा की और भूमि के लिये न्यूनतम किराए के निर्धारण की मांग की। उन्होंने कर-मुक्त भूमि व करों के उन्मूलन की भी मांग की। उन्होंने विदेशों में भारतीय वस्तुओं पर निर्यात शुल्क को कम करने और ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को समाप्त करने का आह्वान किया।

राजा राम मोहनराय ने उच्च सेवाओं के भारतीयकरण तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग करने की मांग की। उन्होंने भारतीय और यूरोपीय लोगों के बीच समानता की भी मांग की।

4.5.5 मानववाद तथा विश्व बंधुत्व पर विचार

राजा राम मोहन राय मानवता एवं अंतरर्राष्ट्रीयता के प्रबल सर्मथक थे। संपूर्ण मानव जाति को वे एक परिवार की तरह मानने के कारण अंतरर्राष्ट्रीय मामलों में विवादों के हल के लिए समझौतों को ही एकमात्र हल मानते थे। उनका मानना था कि प्रत्येक देश की संसद से एक एक सदस्य लेकर एक अंतरर्राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पक्षधर थे। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ व अन्य अंतरर्राष्ट्रीय संगठनों का स्वप्न उन्होंने बहुत पहले ही देख लिया था।

4.5.6 शिक्षा पर विचार

किसी भी राष्ट्र के उन्नति के लिए सर्वप्रथम शिक्षा का प्रचार-प्रसार होना आवश्यक है। राजा राम मोहन राय ने कहा कि भारत में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य होनी चाहिए। उनका मत था कि शिक्षा का विस्तार समाज के निम्न स्तर से होना चाहिए। जैसे जब आग पर कोई चीज पकाई जती है तब बर्तन की नीचे से ही आग जलाने की आवश्यकता होती है। उनका कहना था कि देश में संस्कृत पाठशालाओं में जैसी शिक्षा दी जाती है वह वैसे ही चले। बल्कि इन विद्यालयों की शिक्षा-विधि को औन उन्नत किया जाय। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को भी अपनाया जाय। उन्होंने 1823 ई. में गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिखकर कहा 'इंग्लैण्ड में बेकन के प्रभास से लोगों को पुराने जीवन दर्शन के साथ शिक्षाविधि बदलने की आवश्यकता हुई थी'। यदि शिक्षा विधि को बदल कर बेकन की नीति को नहीं अपनाया जाता तो पुरानी पद्धति से लोगों में शिक्षा-विस्तार करना संभव नहीं होता। वे सदा के लिए अज्ञानी रह जाते। यदि ब्रिटिश व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयतों का सदा अज्ञान के अंधकार में रखना हो तो फिर संस्कृत प्रणाली ही अच्छी है। परंतु जब सरकार भारतीय जनता की प्रगति चाहती है, तब आधुनिक एवं उदार शिक्षा-प्रणाली द्वारा गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। निर्धारित धनराशि से यूरोप में सुशिक्षित, प्रतिभावान भारतीय विद्वानों को शिक्षक नियुक्त किया जाय। एक महाविद्यालय की स्थापना हो जिसके लिए आवश्यक पुस्तकें खरीदी जायें।

राजा राम मोहन राय की दूरदर्शिता सचमुच ही सराहनीय थी। 1817 में डेविड हेयर नामक अंग्रेज के साथ मिलकर भारत में शिक्षा की उन्नति हेतु कार्य किया। सर एडवर्ड हाइडईस्ट को हिन्दू कॉलेज की स्थापना मे मदद की। यह कॉलेज 1817 में कलकत्ता में खोला गया जो अब 'प्रेसिडेन्सी कॉलेज' के नाम से प्रसिद्ध है। स्कॉटलैण्डवासी शिक्षाविद् रेवरेण्ड डफ शिक्षा के क्षेत्र में काम करने आये जो लोगों को आपत्ति हुई कि ईसाई के विद्यालय में बाइबिल पढ़ाई जाती है, जिससे जाति, धर्म भ्रष्ट होने का डर है। ऐस समय में राजा राम मोहन राय ने लोगों को समझाया कि किसी भी धर्म को ग्रंथ पढ़ने से जाति व धर्म भ्रष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता है। सभी धर्म के विषय को जानना अच्छा है। मैंने खुद बहुत बार बाइबिल पढ़ी है, कुरान-शरीफ भी पढ़ी है परंतु मैं न तो ईसाई बना हूँ न ही मुसलमान। बहुतेरे युरोपीय गीता एवं रामारण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, लेकिन वे लोग हिन्दू नहीं हो गये हैं। उनकी बातों से

प्रेरित होकर लोग 'डफ स्कूल' में नियमित रूप से जाने लगे। इस प्रकार शिक्षा विस्तार का काम सफलता से चलने लगा।

राजा राम मोहन राय ने अपने आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए 1822 में एक विद्यालय खोला जिसका नाम 'एंग्लो-हिन्दू स्कूल' था। उनका विचार था कि विद्यायल में अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई होगी, शिक्षा की पाश्चात्य प्रणाली अपनायी जायेगी और धर्म एवं नीति संबंधी शिक्षा दी जाएगी। इस विद्यालय में छात्रों की मातृ-भाषा अर्थात् बंगला भाषा में विज्ञान एवं अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। छात्रों की वाद-विवाद गोष्ठियाँ होती थी। उसमें मातृ भाषा में ही बोलने को प्रोत्साहित किया जाता था। अंगेजी शिक्षा के विस्तार के कारण लोग वेद एवं उपनिषद आदि की चर्चा छोड़ न दें, इस उद्देश्य से उन्होंने 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की। देश में कुछ लोग राजा राम मोहन राय के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तन का विरोध करते थे। राजा राम मोहन राय ने देश की वास्तविक उन्नति के लिए विश्व से संबंध स्थापित करके कदम से कदम मिलाकर चलना पड़ेगा इसके लिए शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रणाली को अपनाना जरूरी है, परंतु उन्होंने कभी भी संस्कृत शिक्षा की अवहेलना नहीं की। इस प्रक्रिया में सरकार समर्थित शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती थी, क्योंकि अज्ञान के कारण सामाजिक बुराइयों के प्रति समाज में जो स्वीकार्यता पैदा हो गई थी, उसे शिक्षा ही दूर कर सकती थी। चारों और कुतर्क का वातावरण था। ऐसे में, ब्रिटिश प्रशासन ही देश में व्याप्त गंभीर सामाजिक बुराइयों को दूर करने का सबसे उपयुक्त माध्यम हो सकता था, जो अपने शासन को ऐसा दूरदर्शी और कृपालु कदम मानता था, जिसके जरिये भारत सामाजिक उन्नति और अंततः आजादी हासिल कर सकता था। ब्रिटिशों का पहला कदम शादी, उत्तराधिकार, राजस्व, आपराधिक कानून और न्याय प्रणाली के क्षेत्र में उदारवादी कानूनी सुधार था। देसी शिक्षा पद्धति को पश्चिमी शिक्षा से बदल दिया जाना था, क्योंकि भारतीय शिक्षा का समाज में व्यावहारिक इस्तेमाल नहीं हो सकता था।

4.6 राजा राम मोहन राय के सामाजिक विचार

प्रत्येक समाज में देखा गया है कि धार्मिक विकृतियाँ सामाजिक स्तर पर कुरीतियों को जन्म देती है। हिन्दू धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। राजा राम मोहन राय के समय हिन्दू समाज जात-पात, छुआ-छूत, वहुविवाह, बाल-विवाह आदि ने जाने कितने कुरितियों के दल-दल में फँसा था। इनमें सबसे घृणित रीति जो धर्म के साथ ही जुड़ी थी वह थी 'सती प्रथा' समाज सुधार के लिए राजा राम मोहन राय ने जो आन्दोलन छेड़े उनमें सबसे महत्वपूर्ण और सफल आन्दोलन था सती प्रथा उन्मूलन। इसके अलावा बहुविवाह, बाल-विवाह, जात-पात, अस्पृश्यता और स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार जैसे सामाजिक अन्यायों के विरूद्ध आन्दोलन किया। सती प्रथा अर्थात् मृत पति के साथ विधवा पत्नी को भी चिता पर जला डालने की प्रथा इस देश में काफी प्राचीन काल से चली आ रही थी और मध्ययुग में कुप्रथा ने भयंकर रूप

धारण कर लिया। यह प्रथा संपूर्ण समाज व देश के लिए कलंक का विषय बन गया था। हत्या के इस नृशंस रूप को धार्मिक और सामाजिक मान्यता देकर चालू रखा गया था। जब राजा राम मोहन राय ने अपने बड़े भाई की पत्नी को सती होते देखा था तो उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि इस घृणित प्रथा को बंद कराकर ही दम लेंगे।

राजा राम मोहन राय के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ केवल यह नहीं कि देश को विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त हो जाए। यदि समाज के भीतर अन्याय की जड़ें गहरी जीम हों तो स्वाधीन देंश में भी व्यक्ति की स्वतंत्रता निरर्थक हो जाती है। जिस देश में व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार न हो, वह देश राजनीतिक स्वशासन का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे देश को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त पहले समाज सुधार का कार्य हाथ में लेना चाहिए।

राजा राम मोहन राय ने सुधारवादी धार्मिक संघों की कल्पना राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के उपरकणों के रूप में की थी। उन्होंने समाज सुधार में प्रयास के रूप में 1815 ई0 में आत्मीय सभा, 1821 ई0 में कोलकाता यूनिटेरियन एसोसिएशन और 1828 ई0 में ब्रह्म समाज की स्थापना की साथ समाज सुधार के लिए जाति व्यवस्था का उन्मूलन, छुआ-छूत का अंत, अंधविश्वास का खंडन, नशीली दवाओं पर रोक लगाने जैसे कई महत्वपूर्ण अभियान चलाये। उन्होंने महिलाओं की स्वतंत्रता और विशेष रूप से सती और विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह, महिलाओं की अशिक्षा, विधवाओं की अपमानजनक स्थिति, महिलाओं के लिए विरासत और संपत्ति में अधिकार जैसे जटिल मुद्दों पर आवाज उठाई।

राजा राम मोहन राय ने मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए यह मान्यता रखी कि हमें असंख्य देवी-देवताओं के बजाय एक ही निराकार ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। उन्होंने जाति प्रथा पर तीव्र प्रहार करते हुए तर्क दिया कि इस प्रथा ने न केवल समाज में घोर विषमता पैदा कर दी है, बल्कि यहाँ के लोगों को देशभक्ति की भावना से भी विमुख कर दिया है। स्वयं ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर राय ने ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता को चुनौती दी और समानता के विचार को बढ़ावा देने के लिए अंतर्जातीय आदान-प्रदान, अंतर्जातीय प्रीतिभोज तथा अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

राय ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दुर्दशा पर गहरी चिंता प्रकट की, और उनकी दशा सुधारने का विस्तृत अभियान चलाया। उन्होंने इस धारणा का खंडन किया कि स्त्रियां बौद्धिक या नैतिक दृष्टि से पुरूषों की तुलना में हीन हैं। उन्होंने स्त्रियों के लिए आधुनिक शिक्षा का समर्थन किया और सामाजिक पुनर्निर्माण में उनकी भूमिका पर प्रकश डाला।

उन्होंने पारिवारिक संपत्ति में स्त्रियों के अधिकार का समर्थन किया। उन्होंने शिशु हत्या विशेषतः कन्या हत्या, बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, बहुपत्नी-प्रथा औ सती प्रथा जैसे अमानवीय कृत्यों का कड़ा विरोध किया। उन्होंने तर्क दिया कि जीवन ईश्वर की देन है और उसे नष्ट करने का अधिकार समाज को नहीं है। विधुर की तरह विधवा को भी पुनर्विवाह की

स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि वह संभव न हो तो विधवा को निष्कलंक जीवन जीने से कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक अन्याय से जुड़ी अनेक प्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई और लगान की अधिकतम राशि नियत कर देने का मांग की ताकि जमींदारों की लगातार बढ़ती हुइ। मांगों को रोका जा सके। राजा राम मोहन राय विश्वबंधुत्व के प्रबल समर्थक थे। इसे बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया। सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों के मुक्त सहयोग की मांग की। इस प्रकार राजा राम मोहन राय का यह मानना है कि व्यक्तिगत उन्नति सामाजिक उन्नति की कसौटी भी है और माप भी, पर व्यक्ति की उन्नति तभी हो सकती है, जब सामाजिक उन्नति के लिए परिस्थितियाँ पैदा की जायें।

सती प्रथा, बालविवाह, जाति प्रथा, अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों के लिए उन्होंने भारतीय समाज में नवचेतना का संचार किया। उनके अथक प्रयासों के कारण 1829 में लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया। बालविवाह जैसे सामाजिक अभिशाप का विरोध करते हुए विधवा पुर्नविवाह को प्रोत्साहित किया। उंचनीच की भावना व अस्पृश्यता को उन्होंने मानवता का महान शत्रु माना। उनके शब्दों में— जाति भेद जिससे हिन्दू समाज अनेक जाति उपजाति में बंट गया है हमारी गुलामी का प्रमुख कारण रहा है। एकता के अभाव में ही हम दासता की जंजीर में जकडे रहे। प्रत्येक समाज में देखा गया है कि धार्मिक विकृतियाँ सामाजिक स्तर पर कुरीतियों को जन्म देती है। हिन्दू धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। राजा राम मोहन राय के समय हिन्दू समाज जात-पात, छुआ-छूत, वहुविवाह, बाल-विवाह आदि ने जाने कितने कुरितियों के दल-दल में फँसा था। इनमें सबसे घृणित रीति जो धर्म के साथ ही जुड़ी थी वह थी 'सती प्रथा' समाज सुधार के लिए राजा राम मोहन राय ने जो आन्दोलन छेड़े उनमें सबसे महत्वपूर्ण और सफल आन्दोलन था सती प्रथा उन्मूलन।

इसके अलावा बहुविवाह, बाल-विवाह, जात-पात, अस्पृश्यता और स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार जैसे सामाजिक अन्यायों के विरूद्ध आन्दोलन किया। सती प्रथा अर्थात् मृत पति के साथ विधवा पत्नी को भी चिता पर जला डालने की प्रथा इस देश में काफी प्राचीन काल से चली आ रही थी और मध्ययुग में कुप्रथा ने भयंकर रूप धारण कर लिया। यह प्रथा संपूर्ण समाज व देश के लिए कलंक का विषय बन गया था। हत्या के इस नृशंस रूप को धार्मिक और सामाजिक मान्यता देकर चालू रखा गया था। जब राजा राम मोहन राय ने अपने बड़े भाई की पत्नी को सती होते देखा था तो उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि इस घृणित प्रथा को बंद कराकर ही दम लेंगे।

राजा राम मोहन राय के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ केवल यह नहीं कि देश को विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त हो जाए। यदि समाज के भीतर अन्याय की जड़ें गहरी जीम हों तो स्वाधीन देंश में भी व्यक्ति की स्वतंत्रता निरर्थक हो जाती है। जिस देश में व्यक्ति को आत्म-

निर्णय का अधिकार न हो, वह देश राजनीतिक स्वशासन का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे देश को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त पहले समाज सुधार का कार्य हाथ में लेना चाहिए। राजा राम मोहन राय ने सुधारवादी धार्मिक संघों की कल्पना राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के उपरकणों के रूप में की थी। उन्होंने समाज सुधार में प्रयास के रूप में 1815 ई0 में आत्मीय सभा, 1821 ई0 में कोलकाता यूनिटेरियन एसोसिएशन और सन्् 1828 ई0 में ब्रह्म समाज की स्थापना की साथ समाज सुधार के लिए जाति व्यवस्था का उन्मूलन, छुआ-छूत का अंत, अंधविश्वास का खंडन, नशीली दवाओं पर रोक लगाने जैसे कई महत्वपूर्ण अभियान चलाये। उन्होंने महिलाओं की स्वतंत्रता और विशेष रूप से सती और विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह, महिलाओं की अशिक्षा, विधवाओं की अपमानजनक स्थिति, महिलाओं के लिए विरासत और संपत्ति में अधिकार जैसे जटिल मुद््दों पर आवाज उठाई।

राजा राम मोहन राय ने मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए यह मान्यता रखी कि हमें असंख्य देवी-देवताओं के बजाय एक ही निराकार ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। उन्होंने जाति प्रथा पर तीव्र प्रहार करते हुए तर्क दिया कि इस प्रथा ने न केवल समाज में घोर विषमता पैदा कर दी है, बल्कि यहाँ के लोगों को देशभक्ति की भावना से भी विमुख कर दिया है। स्वयं ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर राय ने ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता को चुनौती दी और समानता के विचार को बढ़ावा देने के लिए अंतर्जातीय आदान-प्रदान, अंतर्जातीय प्रीतिभोज तथा अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

राय ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दुर्दशा पर गहरी चिंता प्रकट की, और उनकी दशा सुधारने का विस्तृत अभियान चलाया। उन्होंने इस धारणा का खंडन किया कि स्त्रियां बौद्धिक या नैतिक दृष्टि से पुरूषों की तुलना में हीन हैं। उन्होंने स्त्रियों के लिए आधुनिक शिक्षा का समर्थन किया और सामाजिक पुनर्निर्माण में उनकी भूमिका पर प्रकाश डाला। उन्होंने पारिवारिक संपत्ति में स्त्रियों के अधिकार का समर्थन किया। उन्होंने शिशु हत्या विशेषतः कन्या हत्या, बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, बहुपत्नी-प्रथा औ सती प्रथा जैसे अमानवीय कृत्यों का कड़ा विरोध किया। उन्होंने तर्क दिया कि जीवन ईश्वर की देन है और उसे नष्ट करने का अधिकार समाज को नहीं है। विधुर की तरह विधवा को भी पुनर्विवाह की स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि वह संभव न हो तो विधवा को निष्कलंक जीवन जीने से कोई नहीं रोक सकता।

उन्होंने सामाजिक और आर्थिक अन्याय से जुड़ी अनेक प्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई और लगान की अधिकतम राशि नियत कर देने का मांग की ताकि जमींदारों की लगातार बढ़ती हुइ। मांगों को रोका जा सके। राजा राम मोहन राय विश्वबंधुत्व के प्रबल समर्थक थे। इसे बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया। सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों के मुक्त सहयोग की मांग की। इस प्रकार राजा राम मोहन राय का यह मानना है

कि व्यक्तिगत उन्नति सामाजिक उन्नति की कसौटी भी है और माप भी, पर व्यक्ति की उन्नति तभी हो सकती है, जब सामाजिक उन्नति के लिए परिस्थितियाँ पैदा की जायें। वे भारत की आजादी के लिए हिंदू मुस्लिम एकता को आवश्यक मानते थे। ब्रिटिश सरकार के उस हर कदम का विरोध करते थे जो दोनों धर्मों के लोगों में अंतर की खाई को बढाता था। इसीलिए उन्होंने 1823 के हिंदू मुस्लिम के बीच दूरी बढाने वाले जूरी एक्ट का विरोध किया। इसके विरोध में उन्होंने ब्रिटिश संसद में आवेदन भी दिया था। राजा राम मोहन राय ने सुधारवादी धार्मिक संघों की कल्पना सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के उपकरणों के रूप में की। उन्होंने बाल विवाह, महिलाओं की अशिक्षा और विधवाओं की अपमानजनक स्थिति का विरोध किया तथा महिलाओं के लिये विरासत तथा संपत्ति के अधिकार की मांग की।

राजा राम मोहन राय ने वर्ष 1828 में ब्रह्म सभा की स्थापना की जिसे बाद में ब्रह्म समाज का नाम दिया गया। यह पुरोहिती, अनुष्ठानों और बलि आदि के खिलाफ था।
यह प्रार्थना, ध्यान और शास्त्रों को पढ़ने पर केंद्रित था। यह सभी धर्मों की एकता में विश्वास करता था। यह आधुनिक भारत में पहला बौद्धिक सुधार आंदोलन था। इससे भारत में तर्कवाद और प्रबोधन का उदय हुआ जिसने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन में योगदान दिया। यह आधुनिक भारत के सभी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आंदोलनों का अग्रदूत था। यह वर्ष 1866 में दो भागों में विभाजित हो गया, अर्थात् भारत के ब्रह्म समाज का नेतृत्व केशव चन्द्र सेन ने और आदि ब्रह्म समाज का नेतृत्व देबेंद्रनाथ टैगोर ने किया।

4.7 राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचार

राजा राममोहन राय 19वीं शताब्दी के प्रमुख धार्मिक और सामाजिक सुधारक थे । वह भारतीय राजनीतिक सोच की उदारवादी परंपरा के संस्थापक थे । पाश्चात्य और पूर्व के दर्शन की धर्मनिरपेक्षता तथा आध्यात्मिकता का रचनात्मक संयोजन कर एक सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा उन्होंने प्रस्तुत की। उनका मत था कि धर्म के क्षेत्र में बौद्धिकता से और आधुनिकता को लाया जाना चाहिए तथा बौद्धिकता से विहीन धर्म कई सामाजिक बुराइयों की जड़ है । राय की दिलचस्पी न केवल हिंदू धर्म में सुधार करने की थी बल्कि उन्होंने दुनिया के विभिन्न धर्मों में पाए जाने वाले अंतर्विरोध को खत्म करने की कोशिश की ।

राजा राममोहन राय ने पश्चिमी विचार और संस्कृति की सकारात्मक चीजें अपनाकर हमारे समाज और धर्म में सुधार लाने की कोशिश की थी। इस अर्थ में उनकी भूमिका वैसी ही थी, जैसी कि पश्चिमी संदर्भ में मार्टिन लूथर की थी। मुस्लिमों से मेलजोल के कारण उन्हें एकेश्वरवाद ने आकर्षित किया, तो ईसाइयत की नैतिक शिक्षा से भी वह प्रभावित थे और मानते थे कि आध्यात्मिक चिंतन के लिए संन्यास या वैराग्य जरूरी नहीं है। राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचारों का मूल उद्देश्य सभी धर्मों के शाशवत मूल्यों और निहित तत्वों को

समझकर एक सार्वभैमिक, सार्वजनिक धार्मिक सहिष्णुता का परिवेश बनाना था। विश्व की तीन प्रधान धर्मों के अध्ययन और विवेचन के बाद वो अपने सिद्धांत पर पहुँचे थे। वह ऐसे वैचारिक क्रांति के श्रेष्टा थे जिससे आधुनिक भारत का जन्म हुआ। जूरी एक्ट के विरूद्ध उन्होंने अपनी प्रसिद्ध अपील में लिखा था कि धार्मिक सिद्धांत लोगो के साधारण और रोजमर्रा के आचार-व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। ये केवल सिद्धांत और विचार मात्र नहीं, बल्कि ये देश के कानून, व्यवहार, दैनिक आवश्यकता, कार्यकलाप और मानव जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ गुँथे थे।

राजा राम मोहन राय जब बालक थे, तभी हम उन्हें मूर्तिपूजा के औचित्य पर संदेह व्यक्त करते हुए पाते हैं। सभी विद्वान सहमत हैं कि राजा राम मोहन राय विशिष्ट अनुशासन के रूप में तुलनात्मक धर्म प्रतिष्ठापक माने जा सकते हैं। उन्होंने कुरान का अरबी में, वेदों और उपनिषदों का संस्कृत में, 'आल्ड टेस्टामेंट' और 'तालमुद' का हिब्रू में तथा न्यू टेस्टामेंट' का यूनानी भाषा में अध्ययन किया। हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों और अन्य जातियों के धर्म ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से तथा अपने निजी ज्ञान से उन्हें यह निश्चय हो गया कि सभी धर्मों के उपदेशों का मूल यह विश्वास है कि ईश्वर एक और अद्वितीय है और केवल उसी की पूजा करनी चाहिए। सभी ऐतिहासिक धर्मों के वैध धर्मशास्त्र बिना किसी विकल्प के इस एकेश्वरवादी सिद्धांत की पुष्टि करते हैं। आराधना विधियों, धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक प्रतीकों में अन्तर भौगोलिक, जलवायु-जन्य एवं जातीय कारणों से पैदा हुआ। वे कहते थे कि अपने शुद्ध रूप में प्रत्येक धर्म स्वयं में पूर्ण सत्य है।

उन्होंने 'एक सच्चे ईश्वर की गैर-मजहबी उपासना' के लिए एक भारतीय चर्च की भी कल्पना की थी। उस समय, जबकि धार्मिक या सामाजिक रीतियों के विषय में अविश्वास का क्षीण से क्षीण स्वर भी बड़े से बड़ा अपराध माना जाता था, राजा राम मोहन राय ने घोषणा की थी कि 'मूर्तिपूजा' की हिन्दूप्रथा ने अन्य सभी प्रथाओं की तुलना में समाज के ढाँचे को अधिक क्षति पहुँचायी है। मूर्तिपूजा के विभिन्न विधानों से जो असुविधाजनक अथवा हानिकारक रीतियाँ शुरू हो गई हैं, उन पर निरन्तर विचार करने के वाद, मैं अपने देशवासियों को भ्रांतियों के दुःस्वप्न से जगाने के लिए हर संभव उपाय करने पर बाध्य हुआ हूँ। अपने देशवासियों के प्रति मुझे जो प्रेम है उसने भी मुझे इसके लिये बाध्य किया है। उन्होंने लिखा है - 'हे ईश्वर! तू धर्म को ऐसा बना दे कि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच पारस्परिक भेदभाव और वैर विरोध को मिटाने तथा मानवजाति में शांति और एकता पैदा करने में समर्थ हो'। भारतीय परम्परा में जो कुछ महत्वपूर्ण था, उसका वे आदर तो करते थे, पर उसके दास कभी नहीं बने। वेदांत और उपनिषदों का बंगला और अंग्रेजी जैसी जीवित भाषाओं में अनुवाद करके, उन्होंने हिन्दू धर्मग्रन्थों का सारतत्व अधिक से अधिक लोगों के सामने रख दिया। मैक्समूलर ने लिखा

है कि 'राजा राम मोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पूर्व और पश्चिम में प्रवाहित जीवनधारा को पूर्णतः संयुक्त किया।

राजा राम मोहन राय के विचार में धर्म कोई ऐसा रहस्यात्मक गुण नहीं है, जिसका संबंध केवल व्यक्ति के अपने मोक्ष से हो। वस्तुतः वह ऐसी शक्ति है जिसे समाज के उत्थान का प्रशंसनीय कार्य करना और मनुष्य के आत्मोद्धार में योग देना है। एक वैज्ञानिक की तटस्थ दृष्टि से उन्होंने अपने काल के सामज मे नासूर के समान फैली हुई बुराईयों का पता लगाया और उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष आरम्भ किया। वे लिखते हैं कि 'केवल धर्म ही नहीं निष्पक्ष सामान्य बुद्धि और वैज्ञानिक गवेषणा के सही निष्कर्ष भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति एक बड़ा परिवार है'। इस प्रकार संपूर्ण संसार में वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने एक विश्व सरकार की कल्पना की और ऐसी विश्व संस्था की स्थापना पर बल दिया, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आपसी बातचीत द्वारा तय किये जा सकें। 1803 ई**0** में उनका पहला ग्रंथ 'तुहफातुल मुबाहिदीन' (एकेश्वरवादियो के लिए उपहार) प्रकाशित हुआ। यह धार्मिक लेख फारसी में लिखा गया था। इस पुस्तक में धर्मों के स्वरूप को कलंकित करने वाले असत्य पर खेद प्रकट किया गया है तथा एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास के संबंध में समस्त मनुष्य जाति में विचार की सामान्य एकता का प्रतिपादन किया गया है। उनका मानना है कि तार्किक दृष्टि के अभाव में लोग अंधिविश्वास के गर्त में गिर जाते हैं। अपनी किताब में उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा समस्त धर्मां के अंधविश्वासों के विरूद्ध मत प्रकट किया है।

1815 में राजा राम मोहन राय ने धार्मिक विषयों पर विचार विनिमय करने, यानि मूर्ति पूजा, जातिगत कठोरता, निरर्थक अनुष्ठानों व अन्य सामाजिक बुराईयों का विरोध करने के उद्देश्य से कोलकत्ता में 'आत्मीय सभा' की स्थापना की थी। इस संस्था के स्थापित होने के पीछे उद्देश्य था मित्रों के साथ बैठकर धर्म संबंधी विवेचना करना तथा सदस्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयास करना। शास्त्रों का अध्ययन करके राजा राम मोहन राय ने समझा था कि सभी धर्मों का मूल तत्व है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं इस विश्व का निर्माता है। राजा राम मोहन राय का मानव प्रेम किसी देश या काल में सीमित नहीं था। विश्व-मैत्री ही उनका आदर्श था। 1824 में उन्होंने कलकत्ता 'यूनिटेरियन कमेटी' की स्थापना की और 1825 में 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की। बाइबिल के अध्ययन के प्रभाव से इन्होंने एक लेख 'दी प्रिसेप्ट्स ऑफ जीसस' भी लिखा जिसमें बाइबिल के आधार पर शांति और प्रसन्नता का मार्ग दिखाया गया था। 1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसके जरिये वो सभी लोगों तक पहुँचना चाहते थे। इस सभा में वे सब एकत्रित हो सकते थे जो कि एक ईश्वर में विश्वास रखते थे और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। कई भाषाओं के जानकार होने के कारण सभी धर्मग्रंथों का अध्ययन करने में समर्थ होने के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी धर्म एकेश्वरवाद की ओर जाते हैं। धर्म रुपी प्रकाश स्त्रोत से दो प्रकार की किरणें फूटती हैं त्याज्य और स्वीकार्य।

राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचारों का मूल उद्देश्य सभी धर्मों के शाशवत मूल्यों और निहित तत्वों को समझकर एक सार्वभैमिक, सार्वजनिक धार्मिक सहिष्णुता का परिवेश बनाना था। विश्व की तीन प्रधान धर्मों के अध्ययन और विवेचन के बाद वो अपने सिद्धांत पर पहुँचे थे। वह ऐसे वैचारिक क्रांति के श्रेष्टा थे जिससे आधुनिक भारत का जन्म हुआ। जूरी एक्ट के विरूद्ध उन्होंने अपनी प्रसिद्ध अपील में लिखा था कि धार्मिक सिद्धांत लोगो के साधारण और रोजमर्रा के आचार-व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। ये केवल सिद्धांत और विचार मात्र नहीं, बल्कि ये देश के कानून, व्यवहार, दैनिक आवश्यकता, कार्यकलाप और मानव जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ गुँथे थे।

7.8 राजा राम मोहन राय के आर्थिक विचार

राजा राम मोहन राय ने सामाजिक और आर्थिक अन्याय से जुड़ी अनेक प्रथाओं को विरोध किया। उन्होंने किसानों पर जमीदारों के अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई और लगान की अधिकतम राशि नियत कर देने की मांग की ताकि जमींदारों की लगातार बढ़ती हुई मांगों को रोका जा सके। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को खत्म करने की मांग की और मुक्त व्यापार का समर्थन किया। उन्होंने भारतीय वस्तुओं पर से भारी निर्यात शुल्क को हटाने का आग्रह किया। राजा राममोहन राय ने तत्कालीन आर्थिक समस्याओं से संबंधित विभिन्न सुझावों को प्रस्तुत किया परंतु उन्हें तात्कालिक आर्थिक दोषों के प्रभावकारी इलाज मात्र समझना उनके उद्देश्य के महान ऐतिहासिक महत्व को भूलाना होगा। आर्थिक विषयों पर सुझाव रखने से पूर्व राजा राममोहन राय वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते थे तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक अलग लेकिन विलक्षण तर्क प्रस्तुत करते थे। आर्थिक आधारभूत प्रश्नों पर राजा राममोहन राय के विचार उस प्रश्नावली में विस्तार के साथ प्रतिपादित है जो 1831-32 में ब्रिटिश संसद द्वारा नियुक्त एक प्रवर समिति ने उनके पास भेजी थी। इनमें से दो प्रश्न और उनके राय द्वारा दिए गए उत्तर उनकी तर्क क्षमता को प्रतिपादित करते हैं। नमक के व्यापार पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कराने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। रॉबर्ट क्लाइव एवं वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल में अधिकारियों को नमक व्यापार में भाग लेने की अनुमति दी गई थी और इससे वे मालामाल हो गए थे। सरकार ने नमक पर भारी कर लगा दिया था और संरक्षण प्राप्त कर कंपनी और उसके नौकरों ने मनमाने ढंग से हजार प्रतिशत अधिक कर दिया। नमक बनाने के लिए सरकार ने एजेंट नियुक्त किए और एजेंट ने इस कार्य के लिए लगभग 125000 नौकर भर्ती किए जिन्हें मुलुंगी कहा जाता था लेकिन इनकी स्थिति दासों जैसी थी। तैयार होने के बाद नमक कोलकाता में नीलामी द्वारा बेचा जाता था। कुछ व्यापारी मूल्य बढ़ाने के लिए नमक अपने पास रख लेते थे और कई बार इसमें भी मिलावट कर दी जाती थी। राजा राममोहन राय ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्यकृत नमक अकाल के परिणामस्वरुप समस्त जनता को कष्ट उठाना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि नमक उचित मूल्य पर

बेचा जाए तो उसके खपत बढ़ सकती है। उन्होंने अनुरोध किया कि अंग्रेजी नमक की आयात की अनुमति दी जाए जो सस्ता है। नमक के आयात से मुलुंगी बेरोजगार हो जाएंगे तब उन्हें कृषि क्षेत्र में वैकल्पिक रोजगार दिया जाए। राजा राममोहन राय उपनिवेशवाद का समर्थन इसलिए नहीं करते थे कि उन्हें यूरोपीय व्यापारी या नील उत्पादक की नैतिक ईमानदारी पर विश्वास था बल्कि इसलिए करते थे कि सामूहिक रूप से व्यापारियों में ही वह शक्ति थी जो ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के गढ़ को तोड़ सकती थी जिसने भारत की आर्थिक रूप से पंगु बना दिया था।

4.9 राजा राम मोहन राय का योगदान

राजा राम मोहन राय एक दूरदर्शी वास्तविकतावादी थे। वे सांस्कृतिक पुररूत्थान और आर्थिक नीति के पारम्परिक संबंध को स्पष्टतया समझते थे। राजा राम मोहन राम भारत में औपनिवेशिक उदारवाद के मूल प्रवर्त्तक थे। उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को ऐसा ऐतिहासिक संयोग माना जो भारतीय समाज के लिए वरदान सिद्ध हो सकता था। उन्होंने समाज सुधार के लिए कई महत्वपूर्ण कानून पारित कराए। उन्हीं के सतत प्रयास के फलस्वरूप 1829 ई0 में यहाँ कानूनी तौर पर सती-प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा का अंत कर दिया गया।

पंरतु जैसा कि बाद में इतिहास ने सिद्ध कर दिया, अंग्रेजों से इतनी बड़ी आशाएं राजा राम मोहन राय का कोरा आशावाद था। अंग्रेजों ने भारत में जो समाज सुधार लागू किए, उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को सुचारू रूप से चलाना ही था। अंग्रेजों ने शिक्षा के प्रसार में जो योगदान दिया वह भी उनकी प्रशासनिक आवश्यकताएं पूरी करने के लिए था। उन्हांने जो उद्योग लगाए या उद्योगों के विस्तार लिए परिवहन और संचार का जो तंत्र स्थापित किया, वह सब यहाँ के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों के दोहन के उद्देश्य से किया गया था। कुछ भी हो, राजा राम मोहन राय ने आँख मूंद कर ब्रिटिश उपनिवेशवाद को नहीं सराहा। उसके प्रति जनसाधारण की निष्ठा के साथ यह शर्त जुड़ी थी कि वह उनकी आशाएं पूरी करेगा। परंतु उसने ये आशाएं कभी पूरी नहीं कीं। भारत की स्वाधीनता आंदोलन में गति तब आई जब देश के गणमान्य नेताओं ने यह अनुभव किया कि अंग्रेज अपने वचन पूरे नहीं कर रहे थे और बड़ी बेशर्मी से इस देश के संसाधनों का दोहन किए जा रहे थे। संभवतः राजा राम मोहन राय के समय में यह स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं थी।

राम मोहन राय भारतीय पुनर्जागरण काल के शुरुआती दौर के सबसे प्रभावशाली उदाहरण थे। इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार के मुताबिक, 19 वीं शताब्दी के समाज, धर्म और राजनीति से जुड़े तमाम महत्वपूर्ण विचारों और गतिविधियों से संबंधित उपलब्धियां राममोहन के कारण ही थीं। पश्चिमी समाज के लिए हेगेल जितने महत्वपूर्ण थे, भारतीय समाज के लिए राम मोहन राय उतने ही महत्वपूर्ण हैं। सुभाष चंद्र बोस ने यह माना है कि राम मोहन राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को पश्चिम की वैज्ञानिक संस्कृति से जोड़ा।

सुशोभन सरकार के मुताबिक, 'भारतीय पुनर्जागरण यह धारणा विकसित करने के कारण ही संभव हो पाया कि भारत अपने अतीत को भूले बिना बाहरी दुनिया के आधुनिक सभ्यता के साथ घुल-मिल सकता है।'

अभ्यास प्रश्न

1. राजा राम मोहन राय को 'राजा' की उपाधि किसके माध्यम से मिली ?
2. ब्रह्म समाज की स्थापना कब हुई ?
3. 'गौड़ीय व्याकरण' किसकी रचना है ?
4. आत्मीय सभा की स्थापना कब हुई ?
5. सामाजिक एवं राजनीतिक जनजागरण का अग्रदूत किसे कहा जाता है?

4.10 सारांश

राजा राम मोहन राय अपने समय के उन कुछ लोगों में से एक थे जिन्होंने आधुनिक युग के महत्त्व को महसूस किया। वह जानते थे कि मानव सभ्यता का आदर्श स्वतंत्रता से अलगाव में नहीं है, बल्कि राष्ट्रों के आपसी सहयोग के साथ-साथ व्यक्तियों की अंतर-निर्भरता और भाईचारे में है। समाज की समस्याओं को सत्ता के केन्द्र तक पहुँचाने वाले राजा राम मोहन राय ने एक ऐसे मार्ग का निर्माण किया जिससे भावी धर्म को नई दिशा मिली। वास्तव में राजा राम मोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के पैगम्बर और आधुनिक भारत के जनक थे। टैगोर ने ठीक ही कहा है- "राजा राम मोहन राय इस शताब्दी के महान् पथ निर्माता हैं। उन्होंने भारी बाधाओं को हटाया है, जो हमारी प्रगति को रोकती हैं। उन्होंने हमको मानवता के विश्वव्यापी सहयोग के वर्तमान युग में प्रवेश कराया है। राजा राममोहन राय ने पश्चिमी विचार और संस्कृति की सकारात्मक चीजें अपनाकर हमारे समाज और धर्म में सुधार लाने की कोशिश की थी। इस अर्थ में उनकी भूमिका वैसी ही थी, जैसी कि पश्चिमी संदर्भ में मार्टिन लूथर की थी। लूथर ने जिस तरह मध्यकालीन गिरावट और भ्रष्टाचार के खिलाफ बाइबल को मानक बनाया, उसी तरह राम मोहन राय ने वेद को मानक माना, क्योंकि उन्होंने पाया कि यह प्राचीनतम हिंदू धर्मग्रंथ पवित्र और मिलावट रहित है। राम मोहन राय वस्तुतः मानवीय स्वतंत्रता, समानता और आनंद के विराट लक्ष्य को समर्पित एक आधुनिक धर्मनिरपेक्षवादी थे। इसी कारण सुभाष चंद्र बोस ने उन्हें 'नए दौर का पैगंबर' कहा, तो रवींद्रनाथ ने उनके पदचिह्नों का अनुसरण किया। राम मोहन राय के योगदान पर रानाडे का कहना है, 'वह एक ही साथ समाज सुधारक, एक महान धार्मिक आंदोलन के संस्थापक और राजनेता थे। इन तीनों क्षेत्रों में उनका प्रदर्शन इतना चमकदार था कि आज के दौर में इस क्षेत्र की बेहतरीन प्रतिभाएं भी उनके सामने बौनी हैं।'

4.11 शब्दावली

सती प्रथा - यह एक ऐसी प्रथा थी जिसमें पति की मौत होने पर पति की चिता के साथ ही उसकी विधवा को भी जला दिया जाता था।

शाश्वत – सदा रहनेवाला।

ढ़ांचा - संरचना

4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अकबर द्वितीय 2. 1828 3. राजा राम मोहन राय 4. 1815 5. राजा राम मोहन राय

4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वी.पी.वर्मा ,2004 , *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन* , लक्ष्मी नारायण अग्रवाल , आगरा .
2. पी के चड्ढा एवं इन्द्रजीत सिंह सोढ़ी ,2007, *प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक* , यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर .
3. अजय कुमार एवं इस्लाम अली ,2012 , *भारतीय राजनीतिक चिंतन : संकल्पनाएं एवं विचारक* , पियर्सन, दिल्ली .
4. के सी व्यास , 1957, द *सोशल रेनेसा इन इंडिया* , वोरा एण्ड को. पब्लिशर्स, मुंबई .

4.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पुखराज जैन , 2012 ,*प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक* , एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा .
2. विनोद तिवारी , 2005, *राजा राममोहन राय*, मनोज पब्लिकेशन्स , नयी दिल्ली.
3. ए. अवस्थी एवं आर. के. अवस्थी ,1996, *भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, रिसर्च पब्लिकेशन्स , जयपुर

4.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजा राममोहन राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए I
2. प्रेस की स्वतंत्रता संबंधी राजा राममोहन राय के विचारों की समीक्षा कीजिए I
3. राजा राममोहन राय के आर्थिक विचारों का वर्णन कीजिए।
4. राजा राममोहन राय के धार्मिक विचारों एवं सुधारों का मूल्यांकन कीजिए ।
5. राजा राममोहन राय के योगदान का मूल्यांकन कीजिए ।
6. राजा राममोहन राय के सामाजिक विचारों का परीक्षण कीजिए।

इकाई 5 : गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 **गोपाल कृष्ण गोखले का** जीवन परिचय
5.3 **गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों के स्रोत**
5.4 **गोपाल कृष्ण गोखले और उदारवादी विचारधारा**
5.5 **गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचार**
- 5.5.1 **ब्रिटिश शासन एक ईश्वरीय वरदान**
- 5.5.2 **ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज**
- 5.5.3 **संवैधानिक साधनों में अडिग विश्वास**
- 5.5.4 **स्वदेशी का समर्थन और बहिष्कार का विरोध**
- 5.5.5 **राजनीति की आध्यात्मीकरण**
- 5.5.6 **हिन्दू – मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर**
- 5.5.7 **विकेन्द्रीकरण का समर्थन**

5.6 **गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक विचार**
5.7 **गोपाल कृष्ण गोखले के आर्थिक** विचार
5.8 गोपाल कृष्ण गोखले के शिक्षा संबंधी विचार
5.9 गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान
5.10 सारांश
5.11 शब्दावली
5.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.15 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

महादेव गोविंद रानाडे के आदर्श शिष्य एवं महात्मा गाँधी के पूज्य राजनीतिक गुरु , गोपाल कृष्ण गोखले अपने युग के चमकते हुए सितारे थे जिन्होंने भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में अपनी चिंतन और कार्यकलापों का प्रचार- प्रसार किया, वैधानिक आंदोलन को गति दी, आदान-प्रदान और समझौते की मांग का समर्थन किया तथा आदर्शवादी मार्गों में समन्वय किया । गोखले ने सदैव क्रमिक सुधारों का समर्थन किया और भारत के लिए एकाएक स्वशासन की मांग को अव्यावहारिक बताया । ब्रिटिश चरित्र और परंपरा में उनका सदैव विश्वास बना रहा और यह मानते रहे कि न्यायप्रिय अंग्रेजों को जिस दिन विश्वास हो जाएगा कि भारत स्वशासन के लिए सक्षम है , वे यह अधिकार भारतीयों को दे देंगे । पर अन्य उदारवादी नेताओं की तरह गोखले को भी जीवन के अंतिम वर्षों में ब्रिटिश सरकार पर से विश्वास डगमगाने लगा और मानने लगे कि नौकरशाही स्वार्थ पूर्ण है और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के पूर्णता विरुद्ध भी । महादेव गोविंद रानाडे के शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले को वित्तीय मामलों की अद्वितीय समझ और उस पर अधिकारपूर्वक बहस करने की क्षमता से उन्हें भारत का 'ग्लैडस्टोन' कहा जाता है। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सबसे प्रसिद्ध नरमपंथी थे। चरित्र निर्माण की आवश्यकता से पूर्णत: सहमत होकर उन्होंने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना की ताकि नौजवानों को सार्वजनिक जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। उनका मानना था कि वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा भारत की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। स्व-सरकार व्यक्ति की औसत चारित्रिक दृढ़ता और व्यक्तियों की क्षमता पर निर्भर करती है।

5.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को भारतीय राजनीतिक विचारक गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। गोपाल कृष्ण गोखले अपने समय के अद्वितीय संसदविद और राष्ट्रसेवी, एक स्वतंत्रता सेनानी, समाजसेवी, विचारक एवं सुधारक भी थे । सवैधानिक रीति से देश को स्वशासन की ओर ले जाने में विश्वास रखने वाले गोखले नरम विचारों के माने जाते थे। गोखले क्रांति में नहीं बल्कि सुधारों में विश्वास रखते थे। इस अध्याय में गोपाल कृष्ण गोखले के **ब्रिटिश शासन एक ईश्वरीय वरदान, ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज, संवैधानिक साधनों में अडिग विश्वास , स्वदेशी का समर्थन और बहिष्कार का विरोध , राजनीति की आध्यात्मीकरण, हिन्दू – मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर , विकेन्द्रीकरण का समर्थन आदि राजनीतिक विचारों के साथ सामाजिक विचार , आर्थिक** विचार एवं **शिक्षा संबंधी** विचारों पर व्यापक चर्चा की जाएगी ।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको

i . गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक चिंतन के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा ।

ii. साथ ही आप गोपाल कृष्ण गोखले के **सामाजिक** विचारों के बारे में जान सकेंगे।
iii. आपको गोखले के **आर्थिक** विचारों के सम्बन्ध में जानकारी मिल पाएगी तथा
iv. गोपाल कृष्ण गोखले के **शिक्षा संबंधी** विचारों से भी आप अवगत होंगे।

5.2 गोपाल कृष्ण गोखले का जीवन परिचय

भारत के आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में गोपाल कृष्ण गोखले का अग्रणी स्थान है। गोखले का जन्म मुंबई प्रांत के कोल्हापुर जिले में 9 मई 1866 को हुआ था। गोपाल कृष्ण गोखले के पिता का नाम कृष्ण राव था और बे कोल्हापुर राज्य की एक छोटी सामंती रियासत कागल में एक क्लर्क के पद पर कार्य करते थे। बाद में कुछ समय के लिए वे पुलिस में दरोगा के पद पर भी कार्यरत रहे। उनकी माता का नाम सत्यभामा था, जो अनपढ़ होने के बावजूद बुद्धिमान महिला थी। उनकी स्मरण शक्ति असाधारण थी तथा उन्हें परंपराओं और काव्यों का अच्छा ज्ञान था। घर के इस पवित्र वातावरण का प्रभाव गोखले के मस्तिष्क पर भी पड़ना स्वाभाविक था। इसीलिए उन्होंने संभवत जीवनपर्यंत शुद्धता , पवित्रता और नैतिक आचरण पर बल दिया। मात्र 13 वर्ष की अवस्था में अपने पिता के देहांत के बाद उन्हें शिक्षा प्राप्ति के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा। उनका जीवन शुरू से ही सरल और संयम से भरा था। उनकी कुशाग्र बुद्धि उनके शुरुआती जीवन से ही झलकती थी। वे 1884 में एलफिंस्टन कॉलेज, मुंबई से स्नातक उत्तीर्ण करने के बाद पुणे के स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए, जो आगे चलकर फरग्युसन कॉलेज के नाम से विख्यात हुआ। वहीं से गोपाल कृष्ण गोखले कॉलेज के प्रिंसिपल के रूप में 1902 में सेवानिवृत्त हुए। महादेव गोविंद रानाडे पर गोखले की बुद्धिमत्ता और कर्तव्य परायणता का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। गोखले के राजनीतिक जीवन के पथ प्रदर्शक जस्टिस रानाडे ही थे। उन्होंने गोखले को मुंबई प्रदेश की मुख्य राजनीतिक संस्था 'सार्वजनिक सभा' का मंत्री बनाया और अनंतर वे प्रांत के प्रमुख व्यक्तियों में गिने जाने लगे। गोखले ने संस्था द्वारा प्रकाशित 'क्वार्टरली रिव्यू' का संपादन भी किया। 22 वर्ष की आयु में ही गोखले मुंबई विधान परिषद के सदस्य बने तथा सदन में भूमि राजस्व नीति पर अपने दिए गए भाषणों से लोकप्रिय भी। गोखले ने 1905 में 'भारत सेवक समाज' की स्थापना की, ताकि देश के नौजवानों को सार्वजनिक जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। उनका मानना था कि वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा भारत की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इसीलिए इन्होंने सबसे पहले प्राथमिक शिक्षा लागू करने के लिये सदन में विधेयक भी प्रस्तुत किया था।

सन् 1905 में गोखले बनारस कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। केवल 39 वर्ष की आयु में इस महत्वपूर्ण पद पर पहुंचने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। बनारस कांग्रेस की सभापति के रूप में उन्होंने राजनीति शस्त्र के रूप में बहिष्कार का समर्थन किया । उनका मानना था कि इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब कोई चारा न रह गया हो और जब प्रबल लोक भावनाएं इसके अनुकूल हो। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार को न्यायोचित माना तथा जनता और

नौकरशाही के बीच सहयोग की समाप्ति के सम्बन्ध में आशंका व्यक्त की। सन् 1907 में सूरत की फूट के बाद गोखले ने कांग्रेस के कार्यकलापों में भाग लिया और नरम दल के नेता के रूप में वे अनेक वर्षों तक कांग्रेस के कर्णधार का काम करते रहे। वर्ष 1909 के **मॉर्ले-मिण्टो सुधार** को तैयार करने में गोखले की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। गोखले ने 1909 के सुधारों का पहले समर्थन किया लेकिन बाद में सुधारों के व्यवहारिक रूप पर घोर निराशा प्रकट करते हुए नौकरशाही के कार्यों की आलोचना भी की। 1910 ई. में वे **पुनः इम्पीरियल काउन्सिल के सदस्य** निर्वाचित हुए तथा 1912 से 1915 ई. तक उन्होंने भारतीय लोकसेवा आयोग के सदस्य के रूप में काम किया। 1912 में वे दक्षिण अफ्रीका के दौरे पर गए और रंगभेद विरोधी आंदोलन में उन्होंने महात्मा गांधी की सहायता की। वर्ष 1914 में जब कांग्रेस के दोनों दल आपस में मिलने को लगभग राजी हो गए थे, तब पहले गोखले ने इसे पसंद किया लेकिन बाद में अपना विचार उन्होंने बदल दिया। वास्तव में गोखले सिद्धांतवादी थे और अपने सिद्धांतों के प्रतिकूल समझौता उन्हें बिल्कुल भी पसंद नहीं था। 1915 में गांधीजी दक्षिण अफ्रिका से लौटने के बाद गोखले के आग्रह पर कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। गोखले ने भारत में सुधार लाने के लिए एक योजना तैयार की थी जिसे **"भारत का राजनीतिक वसीयत"** कहा जाता है। गोखले ने इस दौरान शक्ति से अधिक परिश्रम किया। अपनी कठोर दिनचर्या के परिणामस्वरूप 19 फरवरी 1915 में केवल 49 वर्ष की अल्पायु में उनका निधन हो गया। तिलक के अनुसार गोखले 'भारत का हीरा, महाराष्ट्र के रत्न और देशसेवकों के राजा' थे। वे कांग्रेस के एक सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता थे और उनकी राष्ट्रभक्ति अद्वितीय थी।

5.3 गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों के स्रोत

गोखले ने एन. जी. बापट के साथ मिलकर एक अंकगणित की पुस्तक लिखी जिसे प्रकाशित होने से पूर्व ही न्यू इंग्लिश स्कूल के पाठ्यक्रम में जोड़ दिया गया था। गोखले अंग्रेजी के अध्यापक नियुक्त हुए थे लेकिन वे अर्थशास्त्र और इतिहास भी पढ़ाया करते थे। कॉलेज के कार्यकाल के दौरान ही बे महादेव गोविंद रानाडे के संपर्क में आए। रानाडे के सानिध्य में आकर नैतिक मूल्यों के प्रति उनका विश्वास बढ़ता गया। वे सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास, निजी भूलों को स्वीकार करने की इच्छा , उद्देश्यों की निष्कपटता तथा नैतिक मानकों के प्रति सम्मान के लिए विख्यात थे। गोखले के अदम्य उत्साह, ग्लानि रहित चेष्टा, अपरिमित ज्ञान और गुढ़ विचारों को देखकर लोग उनको 'दक्षिण का उगता हुआ तारा' भी कहते थे।

गोपाल कृष्ण गोखले सच्चे उदारवादी थे। अपने गुरु महादेव गोविन्द रानाडे से उन्होंने नैतिकता और तार्किकता की शिक्षा ग्रहण की थी। गोखले के विचार दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता से भी मिलते-जुलते थे। वे सांविधानिक आन्दोलन के पक्षधर थे और क्रमिक ढंग से संविधान में परिवर्तन लाना चाहते थे। ब्रिटिश न्यायप्रियता में गोखले की भी आस्था थी। राष्ट्र का कल्याण राजनीतिक उत्तेजना के बवण्डरों से नहीं हो सकता है। अतः

साधन और साध्य की पवित्रता में गोखले विश्वास करते थे। सम्मभवतः साधन और साध्य की पवित्रता का आदर्श ने ही महात्मा गांधी को गोखले की ओर आकृष्ट किया था और उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले को अपना गुरु माना था।

5.4 गोपाल कृष्ण गोखले और उदारवादी विचारधारा

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उदारवादी विचारधारा ,पाश्चात्य शिक्षा, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को भारतीय शिक्षा सभ्यता और संस्कृति से उच्चतर समझती थी , जो ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग में विश्वास करती थी तथा उनके प्रति और संदिग्ध भक्ति का प्रदर्शन करती थी। कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं की भांति ही गोखले एक उदारवादी थे। भारतीय राजनीति में गोपालकृष्ण गोखले उदारवादियों के सिरमौर थे। उनकी महानता इस बात में थी कि उन्होंने राजनीति में नैतिक मूल्यों को स्थान दिया। वे राजनीति और नैतिकता में कोई भेद नहीं समझते थे। उन्होंने भारतीय राजनीति को अपने उच्च चरित्र और आदर्शों से प्रभावित किया। शासन तन्त्र के विरुद्ध युद्ध करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए ।

गोखले का मत था कि सार्वजनिक कर्तव्यों तथा राजनीतिक कार्यों को पवित्र राष्ट्रीय सेवा का मार्ग समझा जाएं । कष्ट सहने, सहृदयता और जीवन की उदारता के बिना राष्ट्रवाद एक जीवन शक्ति नहीं बन सकता। जहाँ एक ओर उनका ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में विश्वास था, वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश शासन की लोकतान्त्रिक संस्थाओं तथा शिक्षण पद्धति के प्रति उनका आकर्षण था। दादाभाई नौरोजी की भाँति वे सदैव आशा किया करते थे कि इंग्लैण्ड में एक नए ढंग की राजनीतिज्ञता का उदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जाएगा। गोखले महान **उदारवादी विचारक** थे। उदारवादी मूल्यों – जनता की स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा का आदर, विधि का शासन, नियंत्रित सरकार, समानता और न्याय में गोखले की गहरी आस्था थी। वे भारतीय जनता में इन मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करना चाहते थे, ताकि वह कालान्तर में **'आत्मनिर्णय'** के अधिकार का वास्तविक उपयोग कर सके। वे ब्रिटिश शासन से यह अपेक्षा करते थे कि भारतीय शासन में वे इन मूल्यों को लागू करें। बहिष्कार की उग्र कार्य-प्रणाली उन्हें पसन्द नहीं थी। एडमण्ड बर्क की भाँति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसंगत प्रगति के पक्षधर थे। वे लोगों की अनुचित मांगों और हिंसक तरीकों पर ध्यान नहीं देते थे। गोखले स्वराज्य के इच्छुक थे परंतु वे आकांक्षा से पूर्व योग्यता के आधार पर तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत क्रमिक रूप में और संवैधानिक साधनों से स्वराज प्राप्ति चाहते थे।

5.5 गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचार

गोखले के राजनीतिक विचार किसी एक पुस्तक में संकलित नहीं किए गए हैं बल्कि सार्वजनिक सभाओं और इंपीरियल विधान परिषद में बजट या अन्य विषयों पर दिए गए

भाषणों, वेल्बी आयोग एवं हौब हाउस आयोग के समक्ष दी गई गवाही, इलिंगटन आयोग के सदस्य के रूप में प्रकट किए गए विचार, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में विविध विषयों पर प्रकट किए गए विचार, भारत सेवक समाज के उद्देश्य तथा भारतीय संवैधानिक और प्रशासनिक सुधारों के संबंध में तैयार किए गए राजनीतिक वसीयतनामा में मिलते हैं।

गोपाल कृष्ण गोखले की निष्ठा अंग्रेजों की न्यायप्रियता और समुचित आचरणशीलता के प्रति इतनी अधिक थी कि वे यह भी मानने को तैयार नहीं थे कि भारत में अंग्रेज अधिकारियों को सुधार सकना संभव नहीं है । ब्रिटेन के साथ भारत के संबंधों को हितकारक मानते थे तथा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संवैधानिक संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय उन्हें पसंद नहीं था । क्रांति के विचारों से वे दूरी बनाए रखते थे तथा वे सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मिक करण करना चाहते थे । उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और सौम्य स्वभाव के कारण ही महात्मा गांधी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु माना। गांधी उन्हें 'पुण्यात्मा गोखले' ही कहा करते थे ।

विभिन्न राजनीतिक विषयों पर उनके विचार निम्न थे :

5.5.1 ब्रिटिश शासन: एक ईश्वरीय वरदान

गोपाल कृष्ण गोखले ने अपने समकालीन उदारवादी भारतीय चिंतकों की तरह भारत में ब्रिटिश राज्य की प्रशंसा की तथा उसका स्वागत भी किया। उनका यह रवैया दो तथ्यों पर आधारित था । सर्वप्रथम तमाम उदार वादियों की तरह गोखले मानते थे कि ब्रिटिश राज के कारण ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई । अंग्रेज कानून के समक्ष समानता के सिद्धांत को मानने वाले थे । उन्होंने प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, चाहे सीमित स्तर पर ही सही। गोखले का मानना था कि प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी अंग्रेजों के कारण ही सुनिश्चित हुई । इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की अर्थात भारतीयों को उनमें से सीखने के लिए बहुत कुछ था। इसलिए गोखले का तर्क था कि हमें कुछ समय और उन्हें झेलना चाहिए तथा उद्योग , वाणिज्य, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में प्रगति करनी चाहिए । गोखले यह मानते थे कि ब्रिटिश राज उस समय और रहता है तो भारत पूरी तरह आधुनिक हो जाएगा और फलस्वरूप यूरोप के अन्य देशों की तरह यह राष्ट्रों में शामिल हो जाएगा ।

गोखले ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे। गोखले की ब्रिटिश प्रशासन में गहरी आस्था थी और ब्रिटिश प्रशासन को भारत के लिए ईश्वरीय मानते थे। उनकी मान्यता थी कि भारत की राजनीतिक एकता, शासन व्यवस्था, संचार व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, स्थानीय संस्थाएँ आदि सब ब्रिटिश शासन की अमूल्य देन हैं। उनकी धारणा थी कि बिटेन के साथ सम्पर्क बनाए रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा। वे इस बात के लिए आभार प्रदर्शित करते थे कि अशान्त

और अराजक भारत में आकर अंग्रेजों ने शान्ति स्थापित की। गोखले की सष्ट मान्यता थी कि भारत का भविष्य अंग्रेजी ताज की अगाध सर्वोच्चता से ही प्राप्त किया जा सकता है। गोखले भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान थे। उनकी शासन के प्रति स्वामिभक्ति देशप्रेम की ही पर्यायवाची थी। उनकी निष्ठा का मूल कारण वह नहीं था कि यह विदेशी शासन था, अपितु यह था कि यह व्यवस्थित शासन था। गोखले अराजकता और अव्यवस्था के विरोधी थे।

गोखले के अनुसार ब्रिटिश शिक्षा, साहित्य और विचारधारा अर्थात् उदार प्रजातान्त्रिक मूल्यों ने भारत में राष्ट्रीयता और प्रजातान्त्रिक विचारों को जन्म दिया। गोखले को यह विश्वास था कि देश का पुनर्निर्माण राजनीतिक उत्तेजना की आंधी से नहीं बल्कि धीरे-धीरे हो सकता है । इस धीमी प्रक्रिया में समस्या का वास्तविक हल था - अंग्रेजों की प्रवृत्तियों के हरेक पहलू पर विजय पाना और इस प्रकार उनकी सहायता और समर्थन प्राप्त करना। अपने समकालीन उदारवादियों की भांति गोखले भी भारत के लिए ब्रिटिश शासन के कल्याणकारी स्वरूप में विश्वास रखते थे । उनकी धारणा थी कि ब्रिटेन के साथ संपर्क बनाए रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा और निखरेगी और उनका दृष्टिकोण व्यापक होगा । गोखले ने भारत के लिए ब्रिटिश संपर्क को एक दैवीय व्यवस्था माना, जिसके अंतर्गत ही भारतीय अपनी प्रगति के लिए आवश्यक परिस्थितियां प्राप्त कर सकते थे। भारत को विश्व राष्ट्रों के समुदाय के बीच एक सम्मानित स्थान प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सहायता और उनके सहयोग अपेक्षित था । गोखले की कामना थी कि इंग्लैण्ड तथा भारत के मध्य सामंजस्यपूर्ण सहयोग की वृद्धि हो, इसलिए वे पारस्परिक सूझ-बूझ की भावना की वृद्धि की बड़ी कद्र करते थे।

5.5.2 ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज

गोखले ब्रिटिश शासन को भारत के लिए कल्याणकारी मानते थे। 1903 में केन्द्रीय विधान परिषद् में उन्होंने इसे स्वीकार किया था कि "भारत का शानदार भविष्य अंगरेजी ताज की अबाध सर्वोच्चता में ही प्राप्त किया जा सकता है।" गोखले स्वराज्य के बदले राजनीतिक अधिकार और सुधार की मांग को प्राथमिकता देना चाहते थे। उनके अनुसार स्वशासन की मांग करने के पहले भारत को उसके लिए पहले अपने को योग्य बनाना पड़ेगा। गोखले क्रमिक विकास के पक्षधर थे। संवैधानिक साधनों में उनका अडिग विश्वास था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को वे संवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त करना चाहते थे। वे प्रार्थना-पत्र, स्मरण पत्र प्रतिनिधिमण्डल बातचीत एवं शासन की रचनात्मक आलोचना का मार्ग अपनाते थे। उनके आन्दोलन में विद्रोह, हिंसा तथा क्रान्ति का नितान्त अभाव था।

गोखले ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के लिए स्वशासन चाहते थे। स्वशासन का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था, "ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करते-करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना और जनता को सामान्यतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।" गोखले भारत

के लिए स्वराज चाहते थे परंतु वे ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में इसे प्राप्त करना चाहते थे। पृथक या अलग होकर स्वशासन प्राप्त करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने अपने जीवन में ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध विच्छेद की बात कभी न सोची और ना कभी कही। गोखले ब्रिटिश शासन की उन नीतियों या कार्यों से कोई सरोकार नहीं रखते थे, जो भारतीय आकांक्षाओं या हितों से असंगत थे। भावी विकास के लिए आशावादी होकर उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में ही इसे प्राप्त करना उचित समझा। पुणे के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने कहा था "अच्छे अथवा बुरे के लिए हमारा भविष्य और हमारी आकांक्षाएं इंग्लैंड के साथ जुड़ गई हैं और कॉन्ग्रेस स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करती है कि हम जिस प्रगति की आकांक्षा करते हैं, वह ब्रिटिश शासन की परिधि में ही हो।"

गोखले के मार्ग को उनके आलोचकों ने भिक्षावृत्ति का नाम दिया, लेकिन इस प्रकार का आरोप अनुचित था। गोखले का मार्ग अत्यधिक श्रम साध्य था और इसकी सफलता बलिदान पर निर्भर थी। गोखले का यह भी मानना था कि अपनी उदार परंपरा को बनाए रखते हुए अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे तथा भारत को उस दिन सुशासन सौंप देंगे जिस दिन स्वयं भारतीय इसी योग्य हो जाएंगे। 'इंग्लैंड की भारत के प्रति प्रतिज्ञा' की अवधारणा थॉमस मुनरो, हेनरी लॉरेंस और महारानी विक्टोरिया की घोषणाओं के आधार पर बनी थी। 1884 में रिपन के वायसराय काल के खत्म होने से लेकर 1917 के अगस्त घोषणा के बाद के तमाम वायसराय और सचिवों ने जोर देकर भारत में ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं को लागू करने की संभावनाओं को नकार दिया था, फिर भी गोखले का यह विश्वास था कि अंग्रेजों के उदारवादी भावना को अपील करने से भारत में राजनीतिक संस्थाओं को लागू किया जा सकता है।

5.5.3 संवैधानिक साधनों में अडिग विश्वास

गोखले संविधानिक सत्ता की वैधता को चुनौती देने की पक्षधर नहीं थे। वे हिंसा, क्रांति अथवा राजनीतिक हत्याओं के माध्यम से उसे उखाड़ फेंकना नहीं चाहते थे तथा लोगों की मांगों की औचित्यपूर्णता के आधार पर संविधानिक प्राधिकारियों के विवेक को जागृत करने का प्रयास करते थे तथा मांगों को स्वीकार करवा कर उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास करते थे। गोखले ने शासन तंत्र के विरुद्ध युद्ध करते हुए वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास था कि तथ्यों और तर्कों को अपनी बात को आधार बनाया जाए तथा समझा-बुझाकर उन लोगों के विचारों को बदला जाए जिनका कुछ महत्व है। गोखले के संविधानिक साधन नैतिक, अनुनय- विनय पर आधारित थे। इन साधनों में आग्रह , समाचार पत्र, मंच एवं भाषण, अधिवेशन, प्रस्ताव, प्रार्थना, स्मरण पत्र, प्रतिनिधिमंडल, विचार-विमर्श , सहानुभूति रखने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों का प्रयोग तथा रचनात्मक आलोचनाएं आदि शामिल थे। गोखले के संविधानिक साधनों में निष्क्रिय प्रतिरोध की तकनीक शामिल है। वे इसे संविधानिक आंदोलन का सर्वोच्च तकनीक मानते थे। निष्क्रिय प्रतिरोध के तकनीकी में करो को देने से इनकार करना भी शामिल था।

गोखले स्वराज प्राप्ति का इसे सर्वोत्तम साधन मानते हैं। वे संवैधानिक साधनों का वर्णन करते हुए भी सतर्कता, क्रमिक विकास और तार्किक प्रगति पर बल देते थे। आग्रहों , तथ्यों तर्कों तथा रचनात्मक आलोचनाओं द्वारा ब्रिटिश शासकों के विवेक को और उनकी न्यायप्रियता और स्वतंत्रताप्रियता की भावनाओं को जागृत करने का प्रयास करते थे। वे उन्हें हराना नहीं चाहते थे, वे तो केवल उनका हृदय परिवर्तन करना चाहते थे।

गोपाल कृष्ण गोखले को संवैधानिक साधनों में अधिक विश्वास था। सावधानी , मंथर विकास और विवेक में उन्हें गहरी आस्था थी। उग्र विचारों और साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग के वे विरोधी थे। वे संवैधानिक तरीकों से ही ब्रिटिश शासन के अंतर्गत स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। उनके अनुसार संवैधानिक साधन तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों के लिए हितकर होगा। इलाहाबाद में 4 फरवरी 1907 को गोखले ने संवैधानिक आंदोलन का ऐसे आंदोलन से तुलना की जिसमें संवैधानिक सत्ता की कार्रवाई द्वारा वांछित परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार संवैधानिक आंदोलन में हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र कांति अथवा विदेशी आक्रमण को सहायता , आमंत्रण आदि की पद्धतियों को कोई स्थान नहीं मिलता। गोखले की मान्यता थी कि उग्रवादियों द्वारा व्यापक बहिष्कार जैसा कदम असंवैधानिक था लेकिन उसे अपनाने के कारण तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल और बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था। उनके अनुसार इसके द्वारा सरकारी सहयोग और सहानुभूति प्राप्त नहीं हो सकते। राजनीतिक प्रगति के मार्ग पर सरकार के सहयोग करके आगे बढ़ना संभव था।

गोखले ब्रिटिश शासन की कमियों और दुर्बलताओं को बताने से नहीं चूकते थे पर साथ ही साथ ब्रिटिश राज्य की उपलब्धियों को नकारात्मक दृष्टिकोण से भी नहीं देखते थे। ब्रिटिश आर्थिक नीति , सैनिक नीति और शिक्षा नीति की उन्होंने तार्किक आलोचना की और साथ ही ब्रिटिश सभ्यता के प्रति आभार व्यक्त किया कि उसने भारत में अनेक नवीन उद्योग और कार्यों को जन्म दिया है। गोखले की संविधानिक साधनों में आस्था उनकी किसी समर्पण की भावना का परिणाम नहीं थी। बल्कि कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों से भी भरी थी। उनके अनुसार हिंसक साधन, योजना, प्रतिहिंसा और प्रतिशोध को जन्म देते हैं। भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में यहां के निवासियों के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह सरकार की संगठित शक्ति का सामना कर सके।

5.5.4 स्वदेशी का समर्थन और बहिष्कार का विरोध

गोखले ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनके लिए स्वदेशी का अर्थ था-देश के लिए उच्च कोटि का गम्भीर तथा व्यापक प्रेम। उन्होंने सन् 1905 में बनारस कांग्रेस अधिवेशन में कहा-"स्वदेशी आन्दोलन आर्थिक होने के साथ-साथ देशभक्ति का भी आन्दोलन है।" गोखले ने स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार बहिष्कार एक ऐसा साधन है जिसका प्रयोग और कुछ ज्यादा बाकी न रहने पर ही किया जाना

चाहिए। शिकायतों की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित करने का यह उपयोगी साधन था। गोखले मानते थे कि राष्ट्रप्रेम का दृष्टिकोण मानवता के एक प्रमुख विचार है। मातृभूमि के लिए त्याग सर्वोत्तम स्वदेशी भावना है। शुरू से ही आंदोलन उनके लिए एक देश भक्ति पर राजनीतिक और आर्थिक दोनों प्रकार का ही आंदोलन था। गोखले की धारणा थी कि भारत की मुख्य समस्या उत्पादन के लिए पूंजी और साहस की कमी थी और यदि दूसरे देश का कोई भी व्यक्ति या संगठन भारत में उत्पादन वृद्धि के उद्देश्य से व्यवसाय लगाता है तो उसे भी स्वीकार कर समर्थन दिया जाना चाहिए।

गोखले स्वदेशी के समर्थक होने के कारण इसे एक ऐसा औद्योगिक आंदोलन कहते थे जो राष्ट्र के संपूर्ण जीवन को प्रभावित करता है।उन्होंने इसके दो स्वरूपों- नैतिक और भौतिक का वर्णन किया है। अपने नैतिक स्वरूप में स्वदेशी मातृभूमि के प्रति एक उच्च कोटि का गंभीर व प्रधान उत्सुक और व्यापक प्रेम है। यह मातृभूमि के प्रति असीम शक्ति है, जिसमें त्याग और परस्पर सहयोग की भावना निहित है। स्वदेशी अपने भौतिक रूप में आर्थिक है , जो देश को आत्मनिर्भर बनाता है और देश का औद्योगिक विकास करता है।

गोखले बहिष्कार की तकनीक को इस कारण स्वीकार नहीं करते थे कि उनकी यह याचिका प्रस्तुत करने और समझाने बुझाने अर्थात अनुनय विनय की नीति के विपरीत था। दूसरी ओर बहिष्कार का एक उग्र विचार या अस्त्र अपने आप में प्रतिरोध की भावना का संकेत देता था। इसलिए गोखले बहिष्कार को एक मूर्खतापूर्ण तकनीक कहते थे। उनके अनुसार जब तक देश में राष्ट्रीय अथवा निजी स्कूलों का जाल नहीं बिछा दिया जाता, तब तक कॉलेजों और स्कूलों का बहिष्कार करना पागलपन है। गोखले इस स्थिति में ही बहिष्कार की तकनीक को स्वीकार करने को तैयार थे , जब इसके पीछे जनमत का असाधारण समर्थन हो। उनके अनुसार बहिष्कार निश्चय ही विरोधी पक्ष की क्रोध को जन्म देगा तथा देश का कोई भी सच्चा शुभचिंतक तब तक ऐसे क्रोध को जाने का विकल्प नहीं चुनेगा , जब तक कि यह नितांत अनिवार्य ना हो जाए। इसलिए गोखले बहिष्कार की तकनीकों किसी अतिवादी अवसर के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे।

5.5.5 राजनीति की आध्यात्मीकरण

गोखले राजनीति में धार्मिक दृष्टिकोण लेकर आए थे और वे राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकता से सराबोर करना चाहते थे। उनके अनुसार धर्म को राजनीति का आधार होना चाहिए। राष्ट्र के निर्माण के लिए नैतिक चरित्र का उत्थान और सामाजिक उत्तरदायित्व का धान आवश्यक है। गोखले सदैव शब्द के ऊपर साधनों की प्रधानता पर बल देते थे। उनका विश्वास था कि राजनीति जनसेवा का एक अलग साधन तभी बन सकते हैं जब उसका आध्यात्मिकरण हो जाए। उनका यह विचार इतना प्रबल था कि लॉर्ड कर्जन जैसे प्रतिगामी वायसराय की हृदय में भी उन्होंने सम्मानजनक स्थान बना लिया था। गोखले के

अनुसार चारित्रिक उन्नति और नैतिक राजनीति के अभाव में स्वशासन प्राप्त हमारे लोगों के लिए अमृत नहीं बन सकेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम राजनीति को अपवित्र और गंदा ना होने दें। राजनीतिक संन्यासी गोखले के अनुसार राजनीति में नैतिकता तथा उच्च उद्देश्यों को लेकर उनका विश्वास था कि धर्म को राजनीति का आधार होना चाहिए। उनका राजनीतिक उद्देश्य सत्ता तथा शक्ति प्राप्त करना न होकर सेवा धर्म निभाने का था। उनके द्वारा स्थापित भारत सेवक समाज' का मुख्य उद्देश्य भी राजनीति और धर्म का समन्वय करना था। गोखले राजनीतिक गतिविधियों और सार्वजनिक जीवन में साधनों की पवित्रता में विश्वास रखते थे। उनका दृढ़ मत था कि पवित्र साधनों से ही पवित्र साध्य की प्राप्ति की जा सकती है। उनका मत था कि राजनीति जनसेवा का साधन तभी बन सकती है जब उसका आध्यात्मीकरण हो जाए। गोखले ने राजनीति में नैतिकता पर अत्यधिक बल दिया। राजनीति में नैतिक तत्त्वों को महत्त्व देने के कारण ही गोखले को महात्मा गाँधी ने अपना **राजनीतिक गुरु** कहा था।

गोखले ने नैतिकता और उच्च आदर्शों को लेकर राजनीति में प्रवेश किया था तथा इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने राजनीति में धर्म, नैतिकता, चरित्र, सार्वजनिक सेवा ,परित्याग और संसाधन की पवित्रता पर बल दिया। उनका कहना था कि केवल साध्य ही पवित्र और उच्च नहीं होनी चाहिए बल्कि उन्हें प्राप्त करने के साधन भी पवित्र और उच्च होने चाहिए। वे उस साध्य को त्यागने के लिए तैयार थे जिनकी प्राप्ति पवित्र और नैतिक साधनों से नहीं हुई थी। गोखले राजनीति को स्वार्थ सिद्धि का साधन भी नहीं मानते थे बल्कि इसे जन सेवा का अवसर मानते थे। उनके अनुसार चरित्र और नैतिकता के अभाव में राजनीति असंभव ही नहीं, निरर्थक भी है। उनके द्वारा स्थापित भारत सेवक समाज इसीलिए एक ऐसे चरित्रवान, देशभक्त, समाजसेवी लोगों को तैयार करने के उद्देश्य से गठित किया गया था, जो आत्म बलिदान में ही आत्म आनंद का अनुभव करें। इस प्रकार भारत सेवक समाज राजनीति के आध्यात्मिकरण का संस्थागत एवं संगठित प्रयास था। राजनीति के आध्यात्मिकरण में गोखले गांधी के पूर्व में थे। गोखले के साधनों की पवित्रता और उच्च नैतिक चरित्र के तत्वों ने गांधी को प्रभावित किया और उन्हें अपना गुरु मानने के लिए प्रेरित किया।

5.5.6 हिन्दू – मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर

गोखले राष्ट्रीय एकता को विशेष महत्त्व देते थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को राष्ट्र के लिए हितकारी माना। दोनों ही धर्मों के व्यक्तियों से उनकी मार्मिक अपील थी कि वे परस्पर सहिष्णुता और आत्म-संयम से काम लें और परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना का विकास करें। रानाडे की तरह ही गोखले ने नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक योग्यताओं का विकास पर विशेष बल दिया। उनका कहना था कि कठोर परिश्रम, त्याग, सामाजिक स्थिति और नैतिक विकास के बल पर ही राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। राष्ट्रीय एकता और निष्ठा पूर्ण

प्रयासों द्वारा ही भारतवासी अपनी समस्याओं के समाधान करने में सक्षम हो सकेंगे, ऐसी गोखले की मान्यता थी।

गोखले ने हिंदू - मुस्लिम एकता को भारतीय राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना और स्वयं को यथासंभव ऐसे विचारों में पड़ने से अलग रखा जिससे इन दो वर्गों के बीच कटुता उत्पन्न होने की संभावना होती हो। दोनों ही वर्गों से उनकी मार्मिक अपील की कि वे परस्पर सहिष्णुता और अपनी संयम से काम ले तथा आपसी मतभेदों पर बल देने की तुलना में परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना बनाए रखें। गोखले ने ऐसी किसी भी आलोचना का स्वागत नहीं किया, जिसके फलस्वरूप दोनों वर्गों में वर्गीय चेतना के प्रसार का भय हो। उनका कहना था कि बहुसंख्यक होने और शिक्षा की दृष्टि से उन्नत होने के कारण हिंदुओं का कर्तव्य है कि सामान्य राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में अपने मुस्लिम भाइयों के सहायक बनें। जिन्ना को वे हिंदू- मुस्लिम भाईचारे का सबसे बड़ा पैरोकार मानते थे। गांधी के साथ-साथ वे जिन्ना के भी राजनैतिक गुरु थे। गोखले एक ऐसे राजनैतिक विचारक थे जो राजनीति में आध्यात्मिक अवधारणा लेकर आये थे। उनके द्वारा स्थापित 'सर्वेन्टस ऑफ इंडिया सोसायटी' का एक मुख्य उद्देश्य राजनीति और धर्म में समन्वय करना था। लोकमान्य तिलक के गणपति और शिवाजी उत्सव के प्रति उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखाई। यद्यपि इस कार्य से वे अलोकप्रिय भी हो गए पर अपने आदर्शों और विश्वासों से डिगना उन्होंने कभी नहीं सीखा। गोखले जीवन पर्यंत एक राष्ट्र के सिद्धांत के समर्थक रहे तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हिंदू-मुस्लिम सामंजस्य और मित्रता के समर्थक थे। वे राष्ट्र निर्माण के लिए भारत की इन दो वर्गों में सौहार्दपूर्ण सहयोग और पारस्परिक विश्वास को आवश्यक समझते थे क्योंकि उनका मानना था कि साथ रहना, एक साथ कष्ट सहना और एक साथ कुछ बनाना और एक प्रकार की आकांक्षाएं रखना ही राष्ट्र का निर्माण करना है। इस पर भी गोखले राष्ट्रीय राज्य के समर्थक नहीं थे। उनकी राष्ट्रीयता सांस्कृतिक थी। गोखले चाहते थे कि जो लोग सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत हैं , उन्हें किसी ऐसी गतिविधियों से न केवल डरना चाहिए बल्कि उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए , जो समुदायों में द्वेष , अविश्वास और संदेह पैदा करती है।

5.5.7 विकेन्द्रीकरण का समर्थन

गोखले सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनके अनुसार भारतीयों को उनके अधिकार तभी प्राप्त हो सकते थे जब ब्रिटिश सरकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाती। गोखले ने इसकी आवश्यकता को नौकरशाही पर तत्काल नियंत्रण हेतु स्वीकार किया। उनका मानना था कि प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदों के आकार में वृद्धि हो और उन्हें प्रान्तीय बजट पर विवाद करने का अधिकार दे दिया जाए। वे जिलाधीशों को प्रशासन के मामलों में सलाह देने के लिए जिला परिषदों के निर्माण के पक्षधर थे।

गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष में थे जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके। वे प्रशासन पर जनता का उचित नियन्त्रण चाहते थे। जिला प्रशासन में कलेक्टर की स्वेच्छाचारिता रोकने के लिए प्रत्येक जिले में जिला स्तरीय परिषद् का निर्माण किया जाना चाहिए, जो कलेक्टर को प्रशासकीय मामलों में सलाह दे। गोखले शक्तियों के विकेंद्रीकरण के पक्ष में थे । वे न केवल प्रांतीय और केंद्रीय स्तर पर विकेंद्रीकरण नहीं चाहते थे बल्कि जिला स्तर पर भी विकेंद्रीकरण चाहते थे । उनका मानना था कि जिला स्तरीय विकेंद्रीकरण से जिला प्रशासन को केंद्रीय सरकार के सचिवालय और उसके अनेक विशेष विभागों के नियम से मुक्ति मिल जाएगा। उनके अनुसार दूसरे जिले के लोगों को जिले की प्रशासन को प्रभावित करने में अधिक से अधिक अवसर दिए जाएं , जब तक के पदाधिकारी जनसेवक ना बन जाए।

गोखले केंद्र और प्रांतीय सरकारों के आर्थिक और प्रशासनिक विषयों को अलग अलग करना चाहते थे तथा प्रांतीय स्तर पर प्रांतीय विधानसभा परिषदों की आकार, निर्वाचित सदस्यों की संख्या और शक्तियों विशेषकर बजट पर वाद विवाद की शक्तियों में विस्तार चाहते थे। गोखले ने हौबहाउस विकेंद्रीकरण आयोग के समक्ष कहा था कि निम्न स्तर पर ग्राम पंचायतों, माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदों और शिखर के स्तर पर विधान परिषदों का परिषदों का पुनर्गठन किया जाए।

5.6 गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक विचार

गोखले के सामाजिक विचार उनकी राजनीतिक सोच का हिस्सा था। वे सही मायने में एक अर्थशास्त्री नहीं थे और न ही एक सामाजिक चिंतक जिनके पास समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण हो। कांग्रेस के नेता होने के नाते और विधान परिषद का सदस्य होने के कारण गोखले ने उस समय के कई सामाजिक आर्थिक समस्याओं से प्रभावित होकर अपने विचारों का सूत्रपात किया । सामाजिक सुधारों के मामले में गोखले ने रानाडे का पक्ष लिया । रानाडे की तरह ही गोखले का मानना था कि सामाजिक सुधारों के साथ राजनीतिक सुधार भी होने चाहिए। 1890 की शुरुआत में रानाडे द्वारा किए गए सुधारों के प्रयास का गोखले ने भी अनुसरण किया। गोखले का मानना था कि राज्य को समाज के प्रगतिशील तत्वों की मदद करनी चाहिए । उन्होंने सिविल मैरिज बिल के प्रस्ताव का समर्थन किया तथा गोखले चाहते थे कि प्रभावशाली प्रमुख अल्पसंख्यक की मदद से राज्य समाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाएं। गोखले ने जहां एक ओर मुक्त और आवश्यक प्रारंभिक शिक्षा का सुझाव दिया, वहीं उन्होंने शराब पर प्रतिबंध लगाने की बात की, जिससे व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में बाधाओं और कठिनाइयों को दूर किया जा सके। गोखले का सामाजिक सुधारवाद उनके उदारवादी दृष्टिकोण के उपाय, उनके राजनीति के आध्यात्मिककरण के विचार, व्यक्ति के नैतिक शुद्धीकरण तथा ज्ञान उपदेश की पूर्व मान्यता थी , जो कि उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम में स्पष्ट झलकता है।

नौकरशाही ने जिस गैर-जिम्मेदारी और हद दर्जे की क्रूरता के साथ जनता की इच्छा की अवहेलना करके बंगाल का विभाजन कर दिया था, गोखले ने उसकी कटु भर्त्सना की। नौकरशाही से उनका आमह था कि उसे इस बंग से शासन करना चाहिए जिससे भारतवासी पश्चिम के उच्चतम आदर्शों के अनुसार अपने देश का शासन करने के योग्य बन सकें। उन्होंने शक्ति को नौकरशाही के हाथों में केन्द्रित करने की नीति की आलोचना की।

गोखले ने 1905 ई० में **भारत सेवक समिति की स्थापना** की। देशभक्तों की टोली तैयार करने में इस संस्था का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आगे चलकर भारत सेवक समिति ने कई नेताओं को पैदा किया जो सच्चे राष्ट्रभक्त थे। उनमें श्रीनिवास शास्त्री, जी. के. देवधर, हृदयनाथ कुँजरू आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

5.7 गोपाल कृष्ण गोखले के आर्थिक विचार

गोखले तत्कालीन भारत की **आर्थिक दुर्दशा** से बहुत चिन्तित थे। उन्होंने न केवल तत्कालीन भारत की आर्थिक दुर्दशा के मूल कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत किया अपितु भारत के उत्थान और समृद्धि के उपायों पर भी प्रकाश डाला। गोखले ने एक अर्थशास्त्री के रूप में समय-समय पर भारत की आर्थिक स्थिति पर विचार व्यक्त किए। गोखले के आर्थिक विचारों पर मुख्यता दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे और गणेश वेंकटेश जोशी के विचारों का प्रभाव था । उन्हें दादा भाई नौरोजी की तरह ही राजनीति के आर्थिक आधारों के अध्ययन में भी अभिरुचि थी । लेकिन नौरोजी के प्रभाव के बावजूद गोखले ने उनके सिद्धांत को अपने आर्थिक विचारों का आधार नहीं बनाया। वे आर्थिक समस्याओं का अत्यधिक सरलीकरण करना नहीं चाहते थे । उनके आर्थिक विचार देश की वास्तविक आर्थिक स्थितियों से ज्यादा प्रभावित थे । गोखले ने आर्थिक नीति के एक ऐसे ढांचे के निर्माण का प्रयास किया जिसका उद्देश्य लोक कल्याण , औद्योगिक विकास, न्यायोचित संरक्षणवाद पर आधारित राज्य का रचनात्मक परंतु सतर्क हस्तक्षेप हो। वे भारत सरकार के आय और व्यय के बीच अधिक संतुलन स्थापित करने के पक्षधर थे। इस सम्बन्ध में उनका सुझाव था कि आय का अधिक न्यायोचित ढंग से वितरण किया जाए।

गोखले ने भारत के सैनिकों को कम करने के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किए। उनके अनुसार यदि सैनिक व्यय को इंग्लैंड और भारत के बीच बांट दिया जाए तो भारतीय खजाने की डेढ़ करोड़ रुपए की बचत हो सकती है तथा भारत के कुल राजस्व व्यय तथा सैनिक के का अनुपात किसी अन्य देश की तुलना में भी उनके अनुसार अधिक था। गोखले के अनुसार भारत के कुल राजस्व व्यय और सैनिक व्यय का अनुपात अन्य देशों की तुलना में अधिक था। गोखले का मत था कि भारत सचिव साम्राज्यीय केबिनेट का सदस्य होता है, अतः उसके और उसकी परिषद के कर्मचारियों पर होने वाले व्यय को केवल भारतीय राजस्व पर भारित नहीं होना चाहिए बल्कि उसे इंग्लैंड और भारत के बीच बराबर-बराबर बाँटना चाहिए।

गोखले के मतानुसार एक आरक्षित सेना का निर्माण किया जाए जिस पर शांतिकाल में अधिक खर्च नहीं होगा, वहाँ युद्ध और आक्रमण की स्थिति में इसका इस्तेमाल किया जा सकेगा। सेना का भारतीयकरण किया जाए। इससे भर्ती सम्बन्धी खर्चे कम होंगे, वेतन कम देना पडेगा और भारतीयों को रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। भारत की भौगोलिक सीमाओं से बाहर इंग्लैंड की इच्छानुसार भारत की सेना का इस्तेमाल किया जाए, तो उस पर आने वाले व्यय का एक निश्चित भाग इंग्लैंड के राजस्व से भी लिया जाना चाहिए। सेना में भारतीयों की भर्ती का प्रस्ताव गोखले ने दिया क्योंकि उनके अनुसार इससे खर्च में कमी होगी तथा भारतीयकरण से शिक्षित भारतीयों को रोजगार के अवसर भी प्राप्त होंगे। उनका कहना था कि भारतीय सेनाओं का इस्तेमाल भारतीय सीमाओं की सुरक्षा के लिए किया जाना चाहिए। यदि उसका इस्तेमाल भारतीय सीमाओं से बाहर किया जाता है तो उसका समस्त व्यय ब्रिटिश बजट के अनुसार ही किया जाना चाहिए। गोखले का मानना था कि भारत पर आरोपित कर न केवल अनियंत्रित थे बल्कि वे ब्रिटिश व्यवसाय के हितों के अधीन थे तथा उनका भारतीय करदाताओं के हितों या उसके कल्याण से कोई सरोकार नहीं था।

गोखले को सरकार की प्राथमिकताओं पर भी आपत्ति थी । इसी कारण गोखले ने सरकार के रेलों के विस्तार का विरोध भी किया। गोखले राजनीतिक क्षेत्र में उदारवाद तथा लोकतांत्रिक सिद्धांतों के समर्थक थे परंतु आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद और उससे जुड़े मुक्त व्यापार और हस्तक्षेप के सिद्धांत के समर्थक नहीं थे । उनका मानना था कि जब तक किसी देश का न्यूनतम आर्थिक विकास अथवा औद्योगिकरण नहीं हो जाता, तब तक उसे स्वतंत्र प्रतियोगिता में धकेलना न्याय संगत नहीं होगा। भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता और उत्पादन की पुरानी तकनीकों से भी चिंतित थे। गोखले भारत का औद्योगीकरण करना चाहते थे। वे भारतीय अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने भारत के उद्योगपतियों को जहाँ उद्योगों के विकास का सुझाव दिया वहाँ उन्होंने विदेशों में मण्डियाँ खोलने के लिए भी कहा। उन्होंने नवयुवकों को तकनीकी शिक्षा में प्रशिक्षण देने और अपने क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने पर जोर दिया। गोखले उदारवादी होते हुए भी भारत के निर्बाध व्यापार तथा कम से कम हस्तक्षेप की नीति के पक्षपाती नहीं थे। उनका आग्रह था कि भारत की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों में ब्रिटिश राज को 'संरक्षण की सतर्क नीति' के साथ मुक्त व्यापार की मर्यादित नीति का पालन करना चाहिए। उनके अनुसार भारत में नए और आधुनिक उद्योगों की स्थापना और विकास में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देना चाहिए। भारतीय उद्योगों को ब्रिटेन सहित विश्व के समृद्ध और उन्नत उद्योगों के साथ खुली प्रतियोगिता से बचाया जाना चाहिए। भारत के अन्दर भारतीय उद्योगों के बीच प्रतियोगिता होनी चाहिए ताकि वे अपनी तकनीक और प्रबन्ध कला आदि में उन्नति की प्रेरणा प्राप्त करें। भारतीय उद्योगों का विकास तो होना चाहिए, किन्तु उनमें एकाधिकारवादी प्रवृत्ति का विकास नहीं होना चाहिए। गोखले

भारतीय उद्योगों के लिए ऐसी सरकारी नीति चाहते थे जो आर्थिक संरक्षण और मुक्त व्यापार के दोषों से मुक्त हो।

5.8 गोपाल कृष्ण गोखले के शिक्षा संबंधी विचार

गोखले एक आदर्श शिक्षक थे जिन्होंने जीवन के बीस वर्ष शिक्षा जगत में ही व्यतीत किया था तथा शिक्षा के विस्तार और विकास के संबंध में वे निरंतर प्रयासरत थे। गोखले की धारणा थी कि राष्ट्र की प्रगति के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तत्व और माध्यम है। इसीलिए न केवल सर्वसाधारण नागरिक को शिक्षित करने पर उन्होंने जोड़ दिया बल्कि राष्ट्र के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए तकनीकी शिक्षा को भी बढ़ावा देने के लिए उन्होंने प्रयास किए। उनका यह स्पष्ट मानना था कि देश के नागरिकों विशेषकर युवाओं में पवित्र विचारों के संचार में ना देश की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। सुधार का एकमात्र माध्यम शिक्षा है। गोखले ने कहा था कि शिक्षा के बिना व्यक्ति की कुशलता में वृद्धि बुद्धिमत्ता सामान्य स्तर में वृद्धि और समुदाय के एक बड़े भाग में चारित्रिक शुद्धता सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। भारत में अज्ञानता और अनभिज्ञता का प्रचंड साम्राज्य था और उनके अनुसार ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो बालकों को शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझते थे। गोखले शिक्षा के क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षा को विशेषकर प्राथमिक शिक्षा को निशुल्क और अनिवार्य बना दिया जाए। गोखले ने भारत सरकार के समक्ष शिक्षा संबंधी अपने प्रस्तावों को प्रेषित किया। निशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा संबंधी प्रस्ताव में अनिवार्यता का तत्व डाल कर देख लेना अपनी प्रतिबद्धता जताई। गोखले का मानना था कि राज्य को भय मूर्ख लोगों से ही है न कि जानवरों से। अनिवार्य शिक्षा का असल उद्देश्य संपूर्ण अज्ञान का नाश करना है।

गोपाल कृष्ण गोखले ब्रिटिश संपर्क को भारत के लिए वरदान स्वरूप मानते थे क्योंकि उसके कारण ही भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवेश हुआ था। गोखले की दृष्टि में पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक मुक्तिदायिनी स्थिति थी और भारत में उसका अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए था। देश की तत्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीय जनमानस को पुनः विचारों की दासता से मुक्त करना और उसमें पाश्चात्य जीवन चरित्र और चिंतन के सर्वोत्तम तत्वों को समाहित करना था। गोखले के अनुसार भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा का बहिष्कार किया तो यह एक गंभीर भूल होगी। वे पश्चिमी देशों की शिक्षा प्रणाली को ही भारत के लिए अधिक उपयुक्त समझते थे क्योंकि भारत की परंपरागत शिक्षा पद्धति की तुलना में भारत को प्रगति के मार्ग ले जाने में अधिक सफल वही शिक्षा पद्धति हो सकती है। गोपाल कृष्ण गोखले ने 1903 में अपने एक बजट भाषण में कहा था कि भावी भारत दरिद्रता और असंतोष का भारत नहीं होगा बल्कि उद्योगों, जाग्रत शक्तियों और संपन्नता का भारत होगा। वे पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए वरदान मानते थे और इसका अधिकाधिक विस्तार

चाहते थे । उनका मानना था कि देश की तत्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीयों को पुराने, जीर्ण-शीर्ण विचारों की दासता से मुक्त कराना होगा । उन्होंने सरकार को ये विचार दिया कि प्राथमिक शिक्षा को छह से दस वर्षो तक के बच्चों के लिए अनिवार्य कर दिया जाए और इसके खर्चे को सरकार और संस्थाएं उठाएं । लेकिन सरकार इस बात के लिए राज़ी नहीं थी। उसका मानना था कि शिक्षा के प्रसार से अंग्रेज़ी साम्राज्य को दिक्कत होगी । गोखले ने अपनी तर्क बुद्धि से उन्हें समझाया कि सरकार को अनपढ़ लोगों से ही डरना चाहिए, पढ़े-लिखों से नहीं। यद्यपि अपने जीवन के अंतिम काल में गोखले को ब्रिटिश व्यवहार से निराशा हुई फिर भी ब्रिटिश सद्भावना में उन्होंने अपना विश्वास नहीं खोया। गोखले नारी शिक्षा के प्रबल और उत्कृष्ट समर्थक थे । उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के यथार्थ कल्याण में नारी शिक्षा एक उच्चतम मूल्य का तत्व है। भारत में इसका महत्व इसलिए भी हो जाता है , जहां जाति और रिति रिवाज के बंधन के कारण हिंदू नारी एक साथ यथास्थिति की शिकार और जबरदस्त समर्थक है । शिक्षा के माध्यम से गोखले हिंदू नारी को उसकी अपमानजनक स्थिति से छुटकारा दिलाने का प्रयास प्रयासरत रहे।

इसके साथ गोखले ने भारत के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए तकनीकी शिक्षा के विस्तार और विकास की आवश्यकता भी जताई । उन्होंने तकनीकी शिक्षा के विस्तार के लिए एक आयोग के गठन की मांग की थी। गोखले विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता के पक्षधर भी थे। विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता को नष्ट करने सरकारी नियंत्रण में लाने संबंधी विधेयक का विरोध किया था। उनका कहना था कि इसका उद्देश्य विश्वविद्यालय प्रशासन से भारतीय तत्व हटाना और उन पर यूरोपीय प्रोफेसर के प्रभाव को बढ़ाना है। पाश्चात्य शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित और उनकी धारणा थी कि इसका महान कार्य भारतीय मस्तिष्क को पुराने विचारों की दासता से मुक्ति दिलाना था । उनके अनुसार पाश्चात्य शिक्षा उदार और लोकतांत्रिक मूल्यों से भरपूर है । अतः भारत में इसके विस्तार और विकास से उदार और लोकतांत्रिक विचारों का विकास होगा । स्पष्ट रूप से वे शिक्षा के माध्यम से भारतीयों की अज्ञानता और अंधविश्वासों को दूर करना चाहते थे।

5.9 गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान

गोखले मध्यममार्गी थे। जनता में जागृति लाने तथा उनके अन्दर त्याग और बलिदान की भावना को पैदा कर स्वशासन का लक्ष्य वे पूरा करना चाहते थे। बनारस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में गोपाल कृष्ण गोखले ने कई महत्त्वपूर्ण बातों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या आधा से अधिक बढ़ाने, बजट पास करने का अधिकार, कार्यपालिका और न्यायपालिका को पृथक करना, जिला स्तर पर परामर्शदाता मण्डल की स्थापना, सैनिक व्यय में कमी, औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा का प्रचार, ग्राम कर्जदारी को दूर करना आवश्यक बतलाया था। वे भारत की

कृषि का विकास भी चाहते थे। सूती वस्त्र पर से उत्पादन-कर उठाने का सुझाव उन्होंने सरकार को दिया था। गोखले राजनीतिज्ञ, समाजसेवी और कुशल अर्थशास्त्री थे। गोखले एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे योग्यता प्राप्त कर लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहते थे। वस्तुतः गोपाल कृष्ण गोखले एक उच्च कोटि के देशभक्त, कुशल राजनीतिज्ञ और व्यावहारिक अर्थशास्त्री थे।

गोखले एक निर्भीक विचारक थे। वे क्रान्तिकारी नेता नहीं थे। वे प्रार्थना-पत्रों एवं सांविधानिक आन्दोलन का रास्ता अपनाकर भारत में सुधार लाना चाहते थे। पंडित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें भारतीय स्वशासन का एक महान देवदूत कहा था। नौकरशाही व्यवस्था पर कठोर प्रहार करने में वे कभी चूकते नहीं थे। वे नौकरशाही के अत्याचार का विरोध करते थे। नौकरशाही को भारत में भारतीयों को इस योग्य बनाने पर बल देते थे कि भविष्य में वे अपना शासन स्वयं चला सकें। बंग-भंग का विरोध, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, राष्ट्रीय एकता में विश्वास रखनेवाले कमजोर हृदयवाला राष्ट्रनेता नहीं कहा जा सकता है। गोपाल कृष्ण गोखले उदारवादी विचारक एवं राजनेता थे। तिलक ने उन्हें 'दुर्बल हृदय उदारवादी' की संज्ञा दी थी। सरकार की नजर में वे एक छिपे हुए विद्रोही थे। पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि "वास्तव में वे न तो दुर्बल हृदय के उदारवादी थी और न छिपे हुए राजद्रोही; वे तो जनता और सरकार के बीच एक सच्चे मध्यस्थ थे।" सरकार को जनता की समस्याओं से परिचित करवाने और सरकार की सुविधाओं की जानकारी जनता को देने के लिए गोपाल कृष्ण गोखले मध्यस्थता का काम करनेवाले सेतु थे। वे सरकार के द्वारा किये गये अच्छे कार्यों की प्रशंसा करते थे और बुरे कामों की निंदा भी करते थे।

एक ओर लोकमान्य तिलक 'केसरी' और 'मराठा' अख़बारों के माध्यम से अंग्रेज़ हुकूमत के विरुद्ध लड़ रहे थे, तो वहीं 'सुधारक' को गोखले ने अपनी लड़ाई का माध्यम बनाया हुआ था। 'केसरी' की अपेक्षा 'सुधारक' का रूप आक्रामक था। सैनिकों द्वारा बलात्कार का शिकार हुई दो महिलाओं ने जब आत्महत्या कर ली, तो 'सुधारक' ने भारतीयों को कड़ी भाषा में धिक्कारा था- तुम्हें धिक्कार है, जो अपनी माता-बहनों पर होता हुआ अत्याचार चुप्पी साधकर देख रहे हो। इतने निष्क्रिय भाव से तो पशु भी अत्याचार सहन नहीं करते। गोखले जी के इन शब्दों ने भारत में ही नहीं, इंग्लैंड के सभ्य समाज में भी खलबली मचा दी थी। 'सर्वेन्ट ऑफ़ सोसायटी' की स्थापना गोखले द्वारा किया गया महत्त्वपूर्ण कार्य था।

गांधी के अनुसार "सर फिरोजशाह मेहता मुझे हिमालय की भाँति अगम्य प्रतीत हुए,लोकमान्य तिलक समद्र की भाँति प्रतीत हुए, जिसमें व्यक्ति आसानी से गोता नहीं लगा सकता. पर गोखले गंगा के समान थे,जो व्यक्तियों को अपने पास बुलाते थे। राजनीति के क्षेत्र में मेरे हृदय में गोखले के जीवन का जो स्थान था,वह अब भी है और वह अनुपम रहेगा।" लॉर्ड कर्जन ने भी लिखा है, ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताएँ प्रदान की हैं और उन्होंने

निःसंकोच उन्हें देश सेवा में लगा दिया है।" डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या ने गोखले के संदर्भ में लिखा है "उनमें कड़ी-से-कड़ी बात को भी मधुर भाषा में कहने का बड़ा गुण था।" गोखले के राजनीतिक विरोधी तिलक के शब्दों में ,"गोखले भारत का हीरा, महाराष्ट्र का रत्न और मजदूरों का राजा था।" गोपाल कृष्ण गोखले स्वयं में एक महामानव थे लेकिन उनकी प्रसिद्धि इस कारण हुई थी कि महात्मा गांधी ने उन्हें कई बार अपना 'शिक्षक और राजनीतिक गुरु' स्वीकार किया था।

अभ्यास प्रश्न

6. गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक गुरु कौन थे ?
7. सन् 1905 में बनारस में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति कौन निर्वाचित हुए थे?
8. गोपाल कृष्ण गोखले को किसने अपना राजनीतिक गुरु माना ?
9. किस विचारक ने लिखा है "वास्तव में वे न तो दुर्बल हृदय के उदारवादी थी और न छिपे हुए राजद्रोही; वे तो जनता और सरकार के बीच एक सच्चे मध्यस्थ थे।"?
10. गोखले ने सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना कब की?

5.10 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गोखले अपने युग के चमकते हुए सितारे थे जिन्होंने भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक- सभी क्षेत्रों में अपनी चिंतन और कार्यकलापों का प्रचार- प्रसार किया, वैधानिक आंदोलन को गति दी, आदान-प्रदान और समझौते की मांग का समर्थन किया तथा आदर्शवादी मार्गों में समन्वय किया । गोखले ने सदैव क्रमिक सुधारों का समर्थन किया और भारत के लिए एकाएक स्वशासन की मांग को अव्यावहारिक बताया । ब्रिटिश चरित्र और परंपरा में उनका सदैव विश्वास बना रहा और यह मानते रहे कि न्यायप्रिय अंग्रेजों को जिस दिन विश्वास हो जाएगा कि भारत स्वशासन के लिए सक्षम है , वे यह अधिकार भारतीयों को दे देंगे । पर अन्य उदारवादी नेताओं की तरह गोखले को भी जीवन के अंतिम वर्षों में ब्रिटिश सरकार पर से विश्वास डगमगाने लगा और मानने लगे कि नौकरशाही स्वार्थ पूर्ण है और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के पूर्णता विरुद्ध भी । महादेव गोविंद रानाडे के शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले को वित्तीय मामलों की अद्वितीय समझ और उस पर अधिकारपूर्वक बहस करने की क्षमता से उन्हें भारत का 'ग्लैडस्टोन' कहा जाता है। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सबसे प्रसिद्ध नरमपंथी थे। चरित्र निर्माण की आवश्यकता से पूर्णत: सहमत होकर उन्होंने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना की ताकि नौजवानों को सार्वजनिक जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। महात्मा गाँधी गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। आपके परामर्श पर ही उन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेने से पूर्व एक वर्ष तक देश में घूमकर स्थिति का अध्ययन करने का निश्चय किया था। साबरमती आश्रम की स्थापना के लिए गोखले ने गांधी जी को आर्थिक सहायता दी। गोखले सिर्फ गांधी जी के ही नहीं बल्कि

मोहम्मद अली जिन्ना के भी राजनीतिक गुरु थे। गांधी जी को अहिंसा के जरिए स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई की प्रेरणा गोखले से ही मिली थी।गोखले की मृत्यु के बाद महात्मा गांधी ने अपने इस राजनैतिक गुरु के बारे में कहा "सर फिरोजशाह मुझे हिमालय की तरह दिखाई दिये, जिसे मापा नहीं जा सकता और लोकमान्य तिलक महासागर की तरह, जिसमें कोई आसानी से उतर नहीं सकता, पर गोखले तो गंगा के समान थे, जो सबको अपने पास बुलाती है।"

5.11 शब्दावली

विकेन्द्रीकरण - सत्ता या शक्ति का केंद्र से स्थानीय विभागों की ओर फैलाव,

संविधान - मूल सिद्धान्तों का एक समुच्चय है, जिससे कोई राज्य या अन्य संगठन अभिशासित होते हैं

निकाय – संगठन ,व्यवस्था

शासन - राज्य के कार्यों का प्रबंध और संचालन

5.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. महादेव गोविंद रानाडे 2. गोपाल कृष्ण गोखले 3. महात्मा गाँधी 4. पट्टाभि सीतारमैया 5. 1905 में

5.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डी. जी.कार्वे एवं डी. बी.अम्बेडकर , 1986, *स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले* , खण्ड -2 , पोलिटिकल , एशिया पब्लिशिंग हाउस , मुंबई.
2. डी. जी.कार्वे एवं डी. बी.अम्बेडकर , 1967 , *स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले* , खण्ड -3 ,एजुकेशनल , एशिया पब्लिशिंग हाउस , मुंबई.
3. ए. अप्पादोराय , 2002, *पोलिटिकल थॉट इन इंडिया* , खामा पब्लिशर्स , दिल्ली.
4. ओ. पी. गाबा, 2005, *राजनीतिक विचारक विश्व कोश* , मयूर पेपर बैक , दिल्ली.
5. विष्णु भगवान, 2002 ,*भारतीय राजनीतिक विचारक* , आत्माराम एण्ड संस , दिल्ली.

5.14 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वी.पी.वर्मा ,2004 , *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन* , लक्ष्मी नारायण अग्रवाल , आगरा .
2. पी के चड्ढा एवं इन्द्रजीत सिंह सोढ़ी ,2007, *प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक* , यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर .

5.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. **गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक** विचारों की समीक्षा कीजिए I
2. **गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक विचारों का मूल्यांकन कीजिए** I
3. **गोपाल कृष्ण गोखले के** आर्थिक विचारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. **गोपाल कृष्ण गोखले के शिक्षा संबंधी** विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 6 : बाल गंगाधर तिलक

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 बाल गंगाधर तिलक का जीवन परिचय
6.3 बाल गंगाधर तिलक की रचनाएँ
6.4 बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व
6.5 तिलक का राजनीतिक दर्शन
6.5.1 राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद
6.5.2 तिलक का राजनीतिक उग्रवाद
6.5.3 स्वदेशी और बहिष्कार
6.5.4 तिलक का स्वराज्य दर्शन
6.6 तिलक के आध्यात्मिक और धार्मिक विचार
6.7 तिलक का सामाजिक सुधार दर्शन
6.8 तिलक का योगदान
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.14 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के जनक बाल गंगाधर तिलक आधुनिक भारत के महानतम कर्मयोगियों में से एक हैं। वह एक समाज सुधारक, स्वतंत्रता सेनानी, राष्ट्रीय नेता के साथ-साथ भारतीय इतिहास, संस्कृत, हिन्दू धर्म, गणित और खगोल विज्ञान जैसे विषयों के विद्वान भी थे। तिलक बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे और भारत के स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा देने में उनकी अग्रणी भूमिका थी। महात्मा गांधी के पूर्व भारत में लोगों को एक जुट करने और पराधीनता के विरोध में लोगों को जागरूक करने की डोर बाल गंगाधर तिलक के पास ही थी। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उनके नारे 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' ने लाखों भारतीयों को प्रेरित किया। बाल गंगाधर तिलक अपनी राष्ट्र भक्ति, देश के प्रति अपने अथक त्याग व बलिदान के लिए जाने जाते हैं। उनके काल में कोई दूसरा ऐसा नेता नहीं था जिसे जनता उनसे अधिक प्यार करती हो। सर वैलेण्टाइन शिरोल द्वारा तिलक को 'भारतीय अशान्ति के जनक' की उपाधि देना उस महान् भूमिका का प्रमाण है जो तिलक ने नवीन राष्ट्रवाद के प्रचार करने में अदा की। राजनीति के सम्बन्ध में तिलक ने आदर्शवादी मार्ग नहीं अपनाया। गान्धी जी ने उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता कहा और जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय क्रान्ति का जनक बतलाया है।

6.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। इस अध्याय में बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के साथ – साथ राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद , तिलक का राजनीतिक उग्रवाद, स्वदेशी और बहिष्कार, तिलक का स्वराज्य दर्शन आदि से सम्बंधित चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा। इसके अतिरिक्त तिलक के आध्यात्मिक और धार्मिक विचार तथा सामाजिक सुधार दर्शन पर भी प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको -

i . बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।

ii. साथ ही आप बाल गंगाधर तिलक के राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद ,राजनीतिक उग्रवाद, स्वदेशी और बहिष्कार, तिलक का स्वराज्य दर्शन सम्बन्धी विचारों के बारे में जान सकेंगे।

iii. आप तिलक के आध्यात्मिक और धार्मिक विचार के सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे तथा

iv. तिलक के सामाजिक सुधार दर्शन से भी आप अवगत होंगे।

6.2 बाल गंगाधर तिलक का जीवन परिचय

लाल , बाल और पाल के नाम से जाने वाली लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल की तिकड़ी ने भारत में राष्ट्रवादी सोच और आंदोलन को एक नई दिशा और एक दृष्टिकोण दिया था। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में आए बदलावों ने यह संभावना बना दी थी कि राष्ट्रवादियों की एक नई और अलग किस्म की पीढ़ी राजनीतिक नेतृत्व प्रदान करें। और इसी राजनीतिक परिदृश्य में बाल गंगाधर तिलक की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है।

बाल गंगाधर तिलक का मूल नाम केशव गंगाधर तिलक था। तिलक (23 जुलाई 1856-1अगस्त 1920) एक भारतीय राष्ट्रवादी, शिक्षक, समाज सुधारक, वकील और एक स्वतन्त्रता सेनानी थे। वे ब्रिटिश राज के दौरान स्वराज के सबसे पहले और मजबूत अधिवक्ताओं में से एक थे तथा भारतीय अन्तःकरण में एक प्रबल आमूल परिवर्तनवादी थे। उनका मराठी भाषा में दिया गया नारा " स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा" काफी लोकप्रिय हुआ। बिपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, अरविन्द घोष और वी. ओ. चिदम्बरम पिल्लै के साथ उनका समन्वय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई गति प्रदान करता है।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म एक सुसंस्कृत, मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में 23 जुलाई 1856 को रत्नागिरि जिले के चिकल गांव तालुका में पिता गंगाधर रामचन्द्र पंत तथा माता पार्वती बाई के घर हुआ था। यह परिवार पवित्रता, विद्वता और प्राचीन परंपराओं और कर्मकांडों में लगन के लिए जाना जाता था। फलस्वरुप बाल तिलक में संस्कृति के प्रति लगाव और प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव बना। अपने समय के अत्यंत लोकप्रिय शिक्षक श्री गंगाधर रामचंद्र तिलक रत्नागिरि में सहायक अध्यापक थे और फिर पूना तथा उसके बाद ठाणे में सहायक उप शिक्षा निरीक्षक पद पर आसीन हुए। प्रारम्भिक शिक्षा मराठी में प्राप्त करने के बाद गंगाधर को अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए पूना भेजा गया। उन्होंने डेक्कन कॉलेज से स्नातक की पढ़ाई पूरी की तथा उनका सार्वजनिक जीवन 1880 में एक शिक्षक और शिक्षक संस्था के संस्थापक के रूप में आरम्भ हुआ। तिलक ने अपने मित्र गोपाल गणेश आगरकर के साथ देश हित में अपने जीवन को शिक्षा के लिए समर्पित कर देने का निश्चय किया। 1876 में पुणे में उन्होंने न्यू इंग्लिश स्कूल प्रारंभ किया तथा अपने अध्यापन जीवन की शुरुआत की। समय के साथ तिलक को यह महसूस हुआ कि छोटे बच्चों को शिक्षित करना काफी नहीं है और बड़ी उम्र के लोगों को भी सामाजिक- राजनीतिक यथार्थ से परिचित कराया जाना चाहिए। इसलिए उन्होंने 1881 में दो साप्ताहिक शुरू किए- अंग्रेजी में मराठा और मराठी में केसरी। लोकमान्य तिलक ने अंग्रेजी शासन की क्रूरता और भारतीय संस्कृति के प्रति हीन भावना की बहुत आलोचना की। तत्पश्चात 1885 में उन्होंने

डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की। बाद में इसका नाम मुंबई के तत्कालीन राज्यपाल के नाम पर फरग्युसन कॉलेज रख दिया गया। अनंतर अगरकर के साथ मतभेद हो जाने के कारण तिलक ने अपने लेखों के जरिए लोगों को अधिकारों के प्रति सचेत करने का प्रयास जारी रखा। अपने लेखों में तिलक अक्सर महाराष्ट्र की परंपरा और इतिहास के बारे में लोगों को एहसास कराया करते थे। अनंतर केसरी और मराठा उनकी आवाज के पर्याय बन गए। अंग्रेज सरकार की नीतियों के विरोध के चलते वर्ष 1897 में पहली बार बाल गंगाधर तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें जेल भेज दिया गया। इस मुकदमे और सजा के चलते उन्हें लोकमान्य की उपाधि मिली। स्वतंत्रता आंदोलन में हजारों लोगों के लिए आदर्श लोकमान्य तिलक एक उदारवादी हिन्दुत्व के पैरोकार थे। इसके साथ ही वह कट्टरपंथी माने जाने वाले लोगों के भी आदर्श थे। धार्मिक परंपराओं को एक स्थान विशेष से उठाकर राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचाने की अनोखी कोशिश करने वाले तिलक सही मायने में 'लोकमान्य' थे।

1905 में बंगाल के विभाजन पश्चात तिलक ने इस विभाजन को रद्द करने की मांग का ज़ोरदार समर्थन किया और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की वक़ालत की, जो जल्दी ही एक देशव्यापी आंदोलन बन गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नरम दल के लिए तिलक के विचार उग्र थे। तिलक का लक्ष्य स्वराज था, छोटे- मोटे सुधार नहीं और उन्होंने कांग्रेस को अपने उग्र विचारों को स्वीकार करने के लिए राज़ी करने का प्रयास किया। इस मामले पर सन 1907 ई. में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में नरम दल के साथ उनका संघर्ष भी हुआ। सन 1908 में सरकार ने उन पर राजद्रोह का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया , जिसमें तिलक का मुकदमा मुहम्मद अली जिन्ना ने लड़ा। परंतु तिलक को 6 वर्ष कैद की सजा सुना दी गई और तिलक को मांडले, बर्मा भेज दिया गया। जेल से छूटकर वे फिर कांग्रेस में शामिल हो गए और 1916-18 में ऐनी बेसेंट और मुहम्मद अली जिन्ना के साथ अखिल भारतीय होम रुल लीग की स्थापना की। "स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा" के नारे के साथ बाल गंगाधर तिलक ने इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की। सन 1916 में मुहम्मद अली जिन्ना के साथ लखनऊ समझौता किया, जिसमें आज़ादी के लिए संघर्ष में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रावधान था।

उन्होंने सबसे पहले ब्रिटिश राज के दौरान पूर्ण स्वराज की मांग उठाई। लोकमान्य तिलक ने जनजागृति का कार्यक्रम पूरा करने के लिए महाराष्ट्र में गणेश उत्सव तथा शिवाजी उत्सव सप्ताह भर मनाना प्रारंभ किया। इन त्योहारों के माध्यम से जनता में देशप्रेम और अंग्रेजों के अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष का साहस भरा गया।-नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक सम्मेलन में भाषण करते हुए उन्होने पूरे भारत के लिए समान लिपि के रूप में देवनागरी की वकालत की और कहा कि समान लिपि की समस्या ऐतिहासिक आधार पर नहीं सुलझायी जा सकती। उन्होने तर्कपूर्ण ढंग से दलील दी कि रोमन लिपि भारतीय भाषाओं के लिए सर्वथा अनुपयुक्त

है। नागरी प्रचारिणी सभा में उन्होने कहा था, "देवनागरी को समस्त भारतीय भाषाओं के लिए स्वीकार किया जाना चाहिए।"

1 अगस्त, 1920 को मुंबई में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो गई। उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए महात्मा गांधी ने उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता और नेहरू जी ने भारतीय क्रांति के जनक की उपाधि दी।

6.3 बाल गंगाधर तिलक की रचनाएँ

लोकमान्य तिलक एक समाज सुधारक, स्वतंत्रता सेनानी, राष्ट्रीय नेता के साथ-साथ भारतीय इतिहास, संस्कृत, हिन्दू धर्म, गणित और खगोल विज्ञान जैसे विषयों के विद्वान भी थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या को लेकर मांडले जेल में लिखी गयी गीता-रहस्य उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है जिसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। उनकी लिखी हुई पुस्तकों में प्रमुख है : 'द ओरिओन' , 'द आर्कटिक होम ऑफ द वेदाज' , 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य', 'द हिन्दू फिलोसोफी ऑफ लाइफ , इथिक्स एण्ड रेलीजन', 'वेदों का काल और वेदांग ज्योतिष' I एम. डी. विद्वांस द्वारा संपादित श्यामजी कृष्ण वर्मा एवं अन्य को लिखे लोकमान्य तिलक के पत्र तथा रवीन्द्र कुमार द्वारा संपादित उनके प्रमुख पत्रजात उनके विचारों को सम्पूर्ण विश्व पटल पर रखते हैँ। लोकमान्य की समस्त पुस्तकें मराठी, अँग्रेजी और हिन्दी में लोकमान्य तिलक मन्दिर, नारायण पैठ, पुणे से सर्वप्रथम प्रकाशित हुईं। बाद में उन्हें अन्य प्रकाशकों ने भी छापा।

6.4 बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व

तिलक बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे और भारत के स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा देने में उनकी अग्रणी भूमिका थी। महात्मा गांधी के पूर्व भारत में लोगों को एक जुट करने और पराधीनता के विरोध में लोगों को जागरूक करने की डोर बाल गंगाधर तिलक के पास ही थी। पुरानी धार्मिक आराधना, गणपति पूजन और शिवाजी के जीवन से जुड़े प्रसंगों पर महोत्सवों के आयोजन के साथ तिलक का नाम घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। तिलक का दृढ़ विश्वास था कि पुराने देवताओं और राष्ट्रीय नेताओं की स्वस्थ वंदना से लोगों में सच्ची राष्ट्रीयता और देशप्रेम की भावना विकसित होगी। विदेशी विचारों और प्रथाओं के अंधानुकरण से नई पीढ़ी में अधार्मिकता पैदा हो रही है और उसका विनाशक प्रभाव भारतीय युवकों के चरित्र पर पड़ रहा है। तिलक का विश्वास था कि अगर स्थिति को इसी प्रकार बिगड़ने दिया गया तो अंतत: नैतिक दीवालिएपन की स्थिति आ जाएगी, जिससे कोई भी राष्ट्र उबर नहीं सकता। यह एक गंभीर समस्या थी और भारत सरकार तक ने उस समय इस ओर ध्यान दिया था। सरकार की नज़र में इस बीमारी का इलाज भारतीय स्कूलों में नैतिक शिक्षा की पाठ्यपुस्तकों की पढ़ाई शुरू करना था। तिलक ने सरकार के इस सुझाव की कठोर आलोचना 'मराठा' के अनेक अंकों में की। तिलक के विचार में, भारतीय युवकों को स्वावलंबी और अधिक ऊर्जावान बनाने के लिए

उनको अधिक आत्म-सम्मान का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। यह तभी किया जा सकता है, जब उन्हें अपने धर्म और पूर्वजों का अधिक आदर करना सिखाया जाएँ। अत्यधिक और निरुद्देश्य आत्म आलोचना एक तपस्वी या दार्शनिक के लिए अच्छी हो सकती है, लेकिन व्यावहारिक जीवन में इससे प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अतिरिक्त देशप्रेम के कारण कभी थोड़ी-बहुत अप्रिय स्थिति उत्पन्न हो सकती है, लेकिन इसके अच्छे नतीजे भी निकलते हैं, जबकि पूर्ण आत्मत्याग का नतीजा केवल आलस्य और मौत हो सकती है।

तिलक अपनी ही तरह के व्यावहारिक समाज-सुधारक थे। उन्होंने अपनी लड़कियों को शिक्षा दी, शास्त्र सम्मत अधिकतम आयु होने तक उनका विवाह स्थगित किया, जाति संबंधी प्रतिबंधों में छूट देने की अपील की और आमतौर पर समाज-सुधार आंदोलन का समर्थन किया। लेकिन इसके बावज़ूद उन्होंने समाज-सुधार पार्टी की आलोचना की। सतही स्तर पर निरीक्षण करने वालों को उनके व्यवहार में यह विरोधाभास नज़र आता है, जबकि उनके विरोधी इसका कारण उनकी सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की इच्छा बताते थे। वास्तविकता यह है कि इस विषय में उनका आचरण उनके पक्के विश्वास का नतीजा था। वे समाज-सुधार चाहते थे- लेकिन उनको उन आदमियों और उनके तरीक़ों पर, जो समाज सुधार की आवाज़ उठा रहे थे, विश्वास नहीं था। उनकी राय में, पिछली पीढ़ी के समाज-सुधारकों के पास ना तो वह योग्यता थी और न वे नैतिक गुण थे, जो सुधार आंदोलन की सफलता के लिए आवश्यक हैं। अत: उनकी आलोचना आम तौर पर उन व्यक्तियों के विरुद्ध होती थी, उन उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं होती थी जिसके लिए ये लोग कार्य कर रहे थे। वास्तव में राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों की आलोचना के बारे में उनका सिद्धांत यही था। वे किसी सरकारी क़दम का अनुमोदन कर सकते थे लेकिन उस उपाय को लागू करने वाले अधिकारियों की आलोचना करते थे। इसी प्रकार वे किसी सुधार को लागू करने के पक्ष में होते थे लेकिन वे उन लोगों की आलोचना करते थे, जो इस सुधार के मठाधीश होने का दावा करते थे।

ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह उनके अंग-अंग में निहित था। तिलक जीवनभर नौकरशाही के लिए खतरा बने रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन को नया जीवन प्रदान करने के लिए तिलक ने 'गणपति उत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' प्रारम्भ किए। तिलक ने कहा था, भाट की तरह से गुणगान करने से स्वतन्त्रता नहीं मिल जाएगी। स्वतन्त्रता के लिए शिवाजी और बाजीराव की तरह साहसी कार्य करने पड़ेंगे।" जन-जागति के लिए तिलक ने 'मराठा' तथा 'केसरी' नामक दो समाचार-पत्रों का सम्पादन किया। 1897 ई. में उन्होंने दक्षिण के दुर्भिक्ष के समय जनता की बहुत सेवा की तथा किसानों से कर न चुकाने का आह्वान इन शब्दों में किया,"क्या आप इस समय भी साहसी नहीं बन सकते जबकि मौत आपके सिर पर नाच रही हो ।" 1898 ई. में पूना में प्लेग फैलने पर उन्होंने सरकारी अव्यवस्था की कड़ी आलोचना की। एक भावुक युवक ने प्लेग कमिश्नर मि. रैण्ड व एक अन्य अंग्रेज अधिकारी

आयर्स्ट को मार दिया। फलस्वरूप तिलक पर 'कत्ल के उत्तेजक के रूप में मुकदमा चलाया गया व 18 माह की सजा सुनाई गई। जनता में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। सन् 1908 में उन्हें सरकार विरोधी लेख लिखने के अपराध में सजा हुई। इस बार भी देश में दंगे हुए।

6.5 तिलक का राजनीतिक दर्शन

बाल गंगाधर तिलक कांग्रेस की उग्रवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। वे उदारवादी साधनों में विश्वास नहीं करते थे। तिलक ने दबाव के जिन साधनों पर जोर दिया है, वे है : स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य। तिलक के इन साधनों को तीन सूत्री कहा जाता है जिसमें एक सूत्र स्वराज्य, लक्ष्य था जबकि अन्य तीन सूत्र- स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन थे। राष्ट्रवाद , पुनरुत्थानवाद ,राजनीतिक उग्रवाद, स्वदेशी और बहिष्कार तथा स्वराज्य संबंधी अवधारणाएं तिलक की मौलिक देन हैँ।

6.5.1 राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद

एक महान राष्ट्रवादी होने के नाते तिलक की राष्ट्रवाद की अवधारणा भारत की प्राचीन संस्कृति की स्वस्थ एवं सजीव परंपराओं पर आधारित थी। महापुरुषों के जीवन तथा धार्मिक व सामाजिक उत्सवों के समारोह उसकी प्रेरणा के स्रोत थे। तिलक का उद्देश्य राष्ट्रीय एकीकरण और स्वराज्य उनका अंतिम लक्ष्य था। इस प्रकार तिलक का राष्ट्रवाद भारत के संपूर्ण जीवन से संबंधित होने के कारण समग्र राष्ट्रवाद कहलाता है। तिलक के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्म निर्णय के पश्चिमी सिद्धांतों का भी व्यापक प्रभाव दर्शित होता है। तिलक ने इस संदर्भ में जे. एस. मिल, वुड्रो विल्सन, गैरीबाल्डी, मैजिनी और एडमंड बर्क के विचारों का भी संदर्भ ग्रहण किया है।

तिलक का राष्ट्रवाद स्वस्थ एवं सजीव परंपराओं पर आधारित राष्ट्रवाद है । यह आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह पैदा करता है तथा लोगों में वेदों और गीता का संदेश प्रसारित करता है तथा भारत की प्राचीन संस्कृति के स्वस्थ एवं सजीव परंपराओं पर राष्ट्र का पुनर्निर्माण चाहता है। यह पश्चिम की नकल बिल्कुल ही नहीं करता और प्राचीन संस्कृति के पुनर्जागरण पर बल देता है। तिलक की राष्ट्रवाद की प्रेरणा स्रोत महाभारत के महापुरुष थे। इसके लिए उन्होंने शिवाजी महाराज का चयन किया जो एक महान राष्ट्रवादी थे। तिलक ने शिवाजी के नाम में निहित शक्ति का उपयोग भारत की सोई हुई जनता को जगाने, जनमत का निर्माण करने और राजनीतिक आंदोलन को संगठित करने के लिए किया जिसके माध्यम से उन्होंने लोगों में राष्ट्रीय नायक के प्रति सम्मान और अपने अतीत पर अभिमान करने की भावना पैदा की। तिलक ने लिखा है "राष्ट्रीय कर्तव्य के मार्ग पर गुलाब के पानी का छिड़काव नहीं होता और ना ही उसमें गुलाब के फूल उपजते हैं।" तिलक का मानना था कि मानव प्रकृति ही ऐसी है कि वह बिना उत्सवों के नहीं रह सकती। उत्सव प्रिय होना मानव का

स्वभाव है। अतः तिलक ने धार्मिक और सामाजिक उत्सवों का प्रयोग लोगों के सामूहिक भावना, राजनीतिक संगठन और शक्ति तथा राजनीतिक चेतना पैदा करने के लिए किया।

तिलक के भाषणों, लेखों और तर्कों ने गणपति के नाम को राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बना दिया तथा तिलक और उनके सहयोगियों ने विलक्षण सूझबूझ और संगठन शक्ति ने जनता के लिए गणेश गणेश उत्सव को बौद्धिक, सांस्कृतिक और कलात्मक उन्नयन के लिए एक राष्ट्रीय आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। इसने वह सामाजिक आयाम प्रस्तुत किया जिससे भारतीयों में आत्मरक्षा और आत्मविश्वास की भावनाएं पैदा हो गई और राष्ट्रीय आंदोलन को सशक्त स्वरूप प्रदान हुआ। तिलक का राष्ट्रवाद हिंदू- मुस्लिम एकता अर्थात राष्ट्रीय एकता पर आधारित था। तिलक न तो सांप्रदायिक थे और नहीं भी हिंदू मुस्लिम विभाजन में विश्वास रखते थे। उन्हें मुसलमानों के प्रति कोई दुराग्रह नहीं थी और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि हिंदू और मुसलमान मिलकर राष्ट्रीय हित में कार्य करें।

राष्ट्रवाद के विकास में प्रतीकों का अत्यधिक महत्व होता है। वे मानव की भावनाओं को सीधे स्पर्श करते हैं। अतः तिलक ने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना जागृत करने तथा उन्हें राष्ट्रीयता के झंडे तले संगठित करने के लिए गणपति और शिवाजी के नामों का प्रयोग प्रतीकों के रूप में किया।

तिलक का राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा थी। उनका मानना था कि आदिम जातियों में जो निष्ठा अपने कबीले के प्रति थी वही निष्ठा आधुनिक मानव में राष्ट्र के प्रति है। उसका संबंध संवेग और अनुभूतियों से हैं और तिलक उसे उसे ही यथार्थ और स्वस्थ राष्ट्रवाद मानते हैं जो समूचे राष्ट्र की एकता पर आधारित हो। तिलक का राष्ट्रवाद की अवधारणा का आधार विशुद्ध रूप से भारतीय था। उनकी अवधारणा पाश्चात्य राष्ट्रवाद से भिन्न थी।

6.5.2 तिलक का राजनीतिक उग्रवाद

लोकमान्य तिलक को उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता है। अपने समाचार पत्र 'केसरी' में उन्होंने लॉर्ड कर्जन की साम्राज्यवादी निरंकुश नीति की कठोर आलोचना की है। उनके अनुसार ब्रिटिश सरकार पर प्रार्थना और नम्र निवेदन का कोई असर होने वाला नहीं है इसलिए हमें अपनी मांगों को हक के रूप में रखना चाहिए और दबावकारी उग्र साधनों का सहारा लेकर विदेशी हुकूमत को यह सोचने पर मजबूर कर देना चाहिए कि भारतीयों की मांगों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। बंगाल विभाजन के बाद तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का नेतृत्व करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ जिसका उपयोग उन्होंने राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने तथा एक ऐसे राष्ट्रव्यापी आंदोलन का संचालन करने में लगाया जिसमें सभी वर्गों और जातियों का योगदान हो तथा जो हर एक शहर और गांव में फैला हो। सरकार की दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया के फलस्वरुप उग्रवादी आंदोलन भारत में जोर पकड़ते गया और

तिलक स्वराज्य का मूल मंत्र अधिक लोकप्रिय बना। तिलक ने स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध के माध्यम से अपनी नीतियों का सार्थक संचालन किया। तिलक का विश्वास था कि संगठन- शक्ति और आत्मनिर्भरता भारतीयों का मार्गदर्शन करने में सक्षम है। तिलक ने उदारवादियों की संवैधानिक पद्धति की सफलता पर कई लेख लिखे और उन्होंने घोषणा की कि राजनीति में दानशीलता के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता और हमारा उद्देश्य आत्मनिर्भरता है, भिक्षावृत्ति नहीं। तिलक ने उग्रवादी होने के बावजूद हिंसा और क्रांति को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया और न ही आवश्यक रूप से सरकारी कानूनों की अवज्ञा के लिए लोगों को प्रेरित किया। उनका कहना था कि यदि सरकार राष्ट्रीय आंदोलन में किसी प्रकार की रुकावट पैदा नहीं करती तो सरकारी कानून तोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

6.5.3 स्वदेशी और बहिष्कार

तिलक ने स्वदेशी संबंधी अवधारणा का प्रयोग आर्थिक अस्त्र के रूप में ही नहीं किया बल्कि उन्होंने इसके साथ बहिष्कार के अस्त्र को जोड़कर इसे एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में ही प्रयोग किया है। स्वदेशी आंदोलन के साथ बहिष्कार आंदोलन का जोड़ना भी निष्क्रिय प्रतिरोध था, यही तिलक का आमूल परिवर्तनवाद है। स्वदेशी और बहिष्कार इस प्रकार स्वराज्य की लक्ष्य की प्राप्ति के अचूक साधन थे। तिलक ने स्वदेशी और बहिष्कार शब्द की महत्ता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तिलक का मानना है कि 'हम सशस्त्र नहीं हैं और अस्त्रों की कोई आवश्यकता भी नहीं है। हमारे पास उससे अधिक कारगर अस्त्र बहिष्कार का राजनीतिक अस्त्र है।

तिलक भारतीय व्यापारियों को स्वदेशी सामान बनाने और युवकों को कुटीर उद्योग लगाने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने स्वयं स्वदेशी मेले, दुकाने, प्रदर्शनी और बाजार लगवाए। भारतीय उद्योगों के विकास के लिए उन्होंने 1903 में एक पैसा कोष भी खोला तथा 1906 में स्वदेशी कोऑपरेटिव स्टोर्स की स्थापना की। तिलक ने स्वदेशी और बहिष्कार का प्रचार इतने जोर शोर से किया कि उसका प्रभाव गांव- गांव, नगर- नगर में होने लगा। तिलक समाजवाद के सिद्धांतों की व्याख्याकार भी नहीं थे फिर भी उनके स्वदेशी आंदोलन के कार्यक्रमों में समाजवाद के मानवीय पक्ष की झलक मिलती है। उन्होंने किसान आंदोलनों का समर्थन किया तथा मुंबई में श्रमिकों की हड़ताल को प्रेरणा दी तथा सहकारिता को भी समर्थन प्रदान किया।

6.5.4 तिलक का स्वराज्य दर्शन

तिलक को स्वराज्य की प्रेरणा प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन से मिली थी। यह उनका धर्म, जीवन और प्राण थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में स्वराज के लक्ष्य को स्वीकार कर लिया गया था परंतु यह तिलक ही थे जिन्होंने शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया। उसके विविध पहलुओं की व्याख्या की तथा उसके संदेश को घर-घर तक पहुंचाया।

सूरत विभाजन के बाद तिलक ने जहां कहीं भी भाषण दिया उन्होंने इस वाक्य को दोहराया कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे प्राप्त करूंगा । स्वराज्य से तिलक का आशय ऐसी शासन व्यवस्था से है जिसमें भारत की आंतरिक मामलों का संचालन और प्रबंधन जनता के हाथों में हो । यह अपने घर के प्रबंध को अपने हाथों में रखने की मांग करता है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन के धर्म राज्य के बराबर है । यह एक धार्मिक राज्य नहीं है। यह एक ऐसा राज्य है जिसमें शासन की शक्तियां मर्यादित है । जिसमें शासन सत्ता का प्रयोग जनहित और लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए किया जाता है।

तिलक प्रथम भारतीय थे जिन्होंने घोषणा की कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" गोखले की तरह तिलक अंग्रेजों की कृपा पर जीवित नहीं रहना चाहते थे। वे स्वराज्य को अपना अधिकार मानते थे। उन्होंने आह्वान किया कि भारतीयों को स्वराज्य के लिए त्याग करना होगा, कष्ट सहने होंगे और अपना सर्वस्व त्याग करना होगा। वास्तव में तिलक लोकतान्त्रिक स्वराज्य के प्रवर्तक विचारक थे। वे एक ऐसी शासन व्यवस्था चाहते थे जिसमें सभी अधिकारी और कर्मचारी जनता के प्रति उत्तरदायी हो और अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हो। 1897 में तिलक ने स्वराज्य का नारा लगाया । जब सरकार ने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया, तो वकील के पूछने पर तिलक ने उत्तर दिया "गुलाम जाति के लिए स्वाधीनता की कामना करना न तो बुरा है और न कोई अपराध ।" तिलक के प्रयास से सन् 1906 में कांग्रेस ने स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया। गोखले, मेहता और बनर्जी इसे बदलवाने की कोशिश में थे। तिलक ने इसका घोर विरोध किया। सन् 1907 में तिलक के विरोध के कारण बहुमत के आधार पर उन्हें कांग्रेस से निकाल दिया गया। सरकार ने उन्हें 6 वर्ष का कारावास देकर माण्डले जेल में डाल दिया। जेल से हटकर उन्होंने फिर स्वराज्य आन्दोलन प्रारम्भ किया। मृत्यु के समय भी उन्होंने कहा कि यदि स्वराज्य नहीं मिला, तो भारत समृद्ध नहीं हो सकता । स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

उदारवादी विचारधारा के अनुसार ब्रिटिश शासन एक दैविक शासन था तथा उसके द्वारा भारत का जो कल्याण हुआ है, वह उसके बिना सम्भव नहीं हो पता । बिटिश सरकार शनै-शनैः वह सब अधिकार हमें देगी जिसके हम धीरे-धीरे अधिकारी होते जाएंगे। तिलक इस उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध थे। तिलक ने भारतीयों के कल्याण के लिए स्वराज्य ही उपयक्त बताया। स्वशासन का अधिकार वह मानव का प्राकृतिक अधिकार मानते थे।

तिलक ने बंग-भंग आन्दोलन के समय सन 1904-05 में तथा फिर दोबारा सन् 1916 के लखनऊ अधिवेशन में कहा. "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा। तिलक स्वराज्य को राजनीतिक नहीं अपितु नैतिक आवश्यकता मानते थे। उनकी स्वराज्य की धारणा प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्यों के आधार पर है । वे स्वराज्य का अर्थ स्वधर्म आचरण की स्वतन्त्रता से लगाते हैं। उनकी स्वराज्य को धारणा छत्रपति शिवाजी तथा सामी

दयानन्द सरस्वती के जैसी ही है। शिवाजी के आसार एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें जनता अपने सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को नैतिकतापूर्ण ढंग से करे। दयानन्द जी इसका अर्थ स्वशासन अक्वा गृह शासन को स्वतन्त्रता से लगाते थे। तिलक इसे अन्तिम लक्ष्य नहीं अपितु स्वतन्त्रता को पूर्व स्थिति मानते थे। उन्होंने कहा, "जिस स्वराज्य का मैं वर्णन कर रहा हूँ,उसका तात्पर्य इस साकार शासन से है। इसमें क्या परिवर्तन किए जाने चाहिए जिससे जनता के कल्याण में उन्नति हो सके ? स्वराज्य के प्रश्न का अर्थ वास्तव में यह है कि हमारे विषयों के ऊपर नियन्त्रण करने की शक्ति किसके हाथों में निहित हो ? मैं कह चुका हूँ कि हम अपरिवर्तनशील शासन या राजा को बदलना नहीं चाहते, अपितु हमारी माँग यह है कि हमारा शासन प्रबन्ध नौकरशाही के हाथों में नहीं रहना चाहिए, जैसा कि वह है, वरन् उसे हमारे हाथों में आना चाहिए। सारांश में स्वराज्य आन्दोलन का उद्देश्य यह है कि नियन्त्रण शक्ति लोगों में निहित होनी चाहिए।"

होमरूल लीग की स्थापना का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने कहा, मैं चाहता हूँ कि मुझे मेरे घर की कुंजी मिले और एक भी अजनबी उसमें से न निकाला जाए। हम अपने शासन तन्त्र पर नियन्त्रण चाहते हैं, लिपिक नहीं बनना चाहते।" आगे उन्होंने कहा, "नई पार्टी क्या चाहती है ? वह यह कहना चाहती है कि तुम्हें अनुभव करना चाहिए कि तुम्हारा भाग्य पूर्णतया तुम्हारे हाथों में है। यदि तुम चाहते हो कि स्वतन्त्र हो जाओ, तुम स्वतन्त्र हो सकते हो । यदि तुम स्वतन्त्र नहीं होना चाहते,तो तुम पतन को प्राप्त होगे और सदैव पतित ही रहोगे।" स्वतन्त्रता के लिए तिलक प्रत्येक प्रकार का बलिदान करने को तत्पर थे। टी. बी. पर्वते ने तिलक को 'लोकतान्त्रिक स्वराज्य का प्रवर्तक' कहा है। तिलक चाहते थे कि भारत की शासन प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन हो जाए। तिलक ने कहा था कि भारतीय रियासतों में भी भारतीय शासक होते हुए स्वराज्य नहीं है। ये अधिकारी भारत मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते थे,क्योंकि वही इनकी नियुक्ति करता था। प्रशासन सम्बन्धी तिलक की धारणा लोकतान्त्रिक थी। उनका कहना था कि प्रशासकीय निकायों के समस्त अधिकारियों को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

स्वराज्य प्राप्त करने के साधन :

तिलक ने यह भी बताया कि किन उपायों से हम स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। स्वराज्य को एक नैतिक कर्तव्य मानते हुए एक बार उन्होंने कहा था कि "स्वराज्य एक अधिकार ही नहीं वरन् एक धर्म भी है , जो उनके स्वराज्य प्राप्ति के साधन भी स्वराज्य की धारणा के समान ही शाश्वत सत्य पर आधारित हैं। उनका कहना था कि "स्वराज्य दिया नहीं जाता, बल्कि प्राप्त किया जाता है।"

वे उदारवादियों की याचना, प्रार्थना आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि "स्वराज्य आज तक किसी विदेशी सत्ता द्वारा किसी अधीन राज्य को नहीं दिया गया है, इसका गवाह इतिहास है। जितने राष्ट्रों ने स्वराज्य प्राप्त किया है, उन्होंने अपने प्रयत्नों से ही

प्राप्त किया है। याचिका की पद्धति को संघर्ष की पद्धति में बदलकर ही किसी राष्ट्र को आगे बढ़ने का अवसर मिल सकता है। यदि किसी जाति में संघर्ष करने की क्षमता नहीं है,तब निश्चित ही वह जाति पिछड़ी जाति है।" स्वराज्य के लिए तिलक क्रियात्मक उपायों को अपनाने पर बल देते हैं। इनके साधन निम्नलिखित हैं :

राष्ट्रीय शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा उनके कार्यक्रम का मुख्य अंग था। उन्होंने पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' तथा 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की। तत्कालीन शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डब्ल्यू. हण्टर ने 'न्यू इंग्लिश स्कूल के प्रति अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था, "समस्त भारत में मैंने इस प्रकार की एक भी संस्था अभी तक नहीं देखी जिसकी इसके साथ तुलना की जा सके। यद्यपि इस संस्था को सरकार कोई सहायता नहीं देती है, तथापि वह न केवल सरकारी हाईस्कूलों से प्रतिद्वन्द्विता कर सकती है, अपितु अन्य देशों के स्कूलों से भी जीत सकती है।" शिक्षा प्रसार के लिए उन्होंने 'दक्षिण शिक्षा समाज' की भी स्थापना की। तिलक निम्न उद्देश्यों के कारण राष्ट्रीय शिक्षा को प्रभावपूर्ण बनाना चाहते

(i) शिक्षा भारतीयों के द्वारा व भारतीयों के लिए हो।

(ii) जनता को सस्ती अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करना।

(iii) विद्यार्थियों को एक नवीन शिक्षा प्रणाली से शिक्षित करना।

(iv) राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा कुछ ऐसे युवकों को शिक्षित करना जिनके अन्दर राष्ट्रीय भावना कूट-कूटकर भरी हुई हो तथा जो स्वयंसेवक का कार्य सुगमतापूर्वक कर सकें। तिलक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा को ही पूर्ण न मानकर धार्मिक व आदर्श शिक्षा पक्षधर थे। वे मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। राजनीति की सफलता के लिए वे शिक्षा को आवश्यक मानते थे।

स्वदेशी आन्दोलन

उदारवादी नेता दादाभाई नौरोजी रानाले, देशमुख, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि स्वदेशी भावना का प्रया तिलक ने महाराष्ट्र के कोने-कोने में स्वदेशी आन्दोलन द्वारा राष्ट्रवादी विचारधामी फैलाया। स्वदेशी आन्दोलन का अर्थ था- देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग। उनहोंने स्वदेशी शिक्षा स्वदेशी विचार तथा स्वदेशी जीवन-पद्धति आदि सभी क्षेत्रों में इसका पयोग किया। तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन में विदेशी बहिष्कार भी जोड दिया। स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग किया जाए और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाए-यह नारा तिलक ने दिया। उसके साथ तिलक ने कहा कि हमें अपने धर्म संस्कृति, भाषा और सभ्यता को पश्चिम से श्रेष्ठ समझना चाहिए और अपनी संस्कृति को अधिक महत्त्व देना चाहिए। उदारवादी पाश्चात्य भाषा और संस्कृति को अपनाने के पक्ष में थे, जिनका तिलक ने घोर विरोध किया। तिलक ने अनेक विद्यालय खोले और चन्दा इकट्ठा कर नये उद्योग-धन्धे भी प्रारम्भ कराए।

तिलक बहिष्कार द्वारा ब्रटिश शासन पर दबाव डालकर जनता की मांगें मनवाने के पक्ष में भी थे। तिलक वदेशी को अपनाने और विदेशी का बहिष्कार करने को एक सशक्त हथियार मानते थे। वे अपनी फौज भेजकर अंग्रेजों की सहायता करने के भी विरोधी थे। तिलक के विदेशी बहिष्कार को अपनाकर ही गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया। यह असहयोग तिलक के बहिष्कार का ही नवीन संस्करण था।

अवज्ञा का सिद्धान्त - सर्वप्रथम तिलक ने भारतीय जनता को 'अवज्ञा का सिद्धान्त प्रदान किया, जो स्वराज्य प्राप्ति में सहायक बना । उदारवादी नेताओं के विपरीत तिलक राजनीतिक अधिकारी व सुधार के लिए सरकार पर दबाव डालना चाहते थे। इसके लिए वे बलिदान, त्याग के लिए भी तैयार थे। उनका मत था कि यदि स्वराज्य संवैधानिक साधनों से प्राप्त नहीं होता है, तो हिंसात्मक साधनों को महण करने में कोई बुराई नहीं है। वह मानते थे कि साध्य की पवित्रता साधन को भी पवित्र बना देती है। इसलिए वे राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति को बदलने को कहते थे। तिलक का कहना था कि "विदेशी शासन चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, पर वह स्वशासन से श्रेष्ठ नहीं हो सकता।"

6.6 तिलक के आध्यात्मिक और धार्मिक विचार

तिलक के राजनीतिक चिंतन आधार उनके आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों के पुंज ही छुपा हुआ है । यह कहना गलत नहीं होगा कि महात्मा गांधी की भांति ही तिलक की राजनीति बहुत हद तक धर्म पर आधारित है। लोकमान्य तिलक की अद्वैत दर्शन में गहरी आस्था थी । ऋग्वेद तथा उपनिषदों के वेदांत सिद्धांत और श्रीमदभगवत गीता ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया । उनकी दृष्टि में आत्मा एक पूर्ण और सर्वोच्च संस्था थी । लोकमान्य तिलक ने भारत के अतीत को उजागर किया तथा भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को पुनः स्थापित किया।

धर्म के प्रति निष्ठा और श्रद्धा बनाए रखने के लिए तिलक ने व्यक्तिगत ईश्वर के विचार को स्वीकार किया। उन्होंने कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना तथा गीता की अपनी व्याख्या कृष्ण को ही समर्पित की। तिलक में हिंदू धर्म की विराट स्वरूप को स्वीकार करते हुए राष्ट्रीयता का एक तत्व धर्म को माना है । तिलक के अनुसार धर्म का आशय है ईश्वर और मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य । तिलक के अनुसार भारत महान राष्ट्र के रूप में संगठित था पर उसकी एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी है। इसलिए राष्ट्रीय नेताओं का यह कर्तव्य है कि उसे एकता को पुनः स्थापित करने का प्रयास करें । तिलक की आकांक्षा थी कि धर्म के माध्यम से भारत राष्ट्र को संगठित किया जाए। उनकी दृष्टि में यह स्वराज्य की एक नैतिक आवश्यकता थी और नैतिक आधार पर ही उन्होंने स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय युद्ध का संचालन किया।

6.7 तिलक का सामाजिक सुधार दर्शन

तिलक के सामाजिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में उनके आलोचक उन्हें रूढ़िवादी, परंपरावादी, दक्षिणपंथी, प्रतिक्रियावादी, कट्टरवादी , धर्मांध और सुधार विरोधी मानते हैं परंतु यह तिलक के सामाजिक विचारों का सही मूल्यांकन नहीं है। यह सही है कि तिलक राजा राममोहन राय की तरह एक समाज सुधारक नहीं थे परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि तिलक प्रतिक्रियावादी या समाज सुधार के विरोधी थे। वे समाज में विद्यमान कुरीतियों को दूर करने के लिए उतने ही आतुर और प्रयत्नशील थे जितना उनके समकालीन आदर्शवादी सुधारक । तिलक बाल विवाह के विरुद्ध थे तथा विधवा विवाह और नारी अधिकारों के प्रबल समर्थक थे । उन्हें दलित वर्गों से न केवल सहानुभूति थी बल्कि वे अस्पृश्यता निवारण पर भी जोड़ देते थे।

वे राजनीतिक स्वाधीनता को प्राथमिकता के रूप में देखते थे तथा समाज सुधार की अगुवाई का उत्तरदायित्व भारतीयों के हाथों में देना चाहते थे। उनके अनुसार समाज सुधार का आधार जन सहमति है। उनकी मान्यता थी कि समाज सुधार को लोगों के ऊपर थोपा या लादा नहीं जा सकता। तिलक का सामाजिक दर्शन सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों को एक दूसरे से अलग रखता है । वह इन्हें मिलाकर भ्रांति पैदा नहीं करना चाहता। तिलक विवादास्पद सामाजिक मुद्दों को उठाकर समाज की शक्ति को कम नहीं करना चाहते थे । उनका मानना था कि यदि सामाजिक मुद्दों को राजनीति मुद्दों के साथ मिलाकर देखा जाए तो उनमें विरोधाभासपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

तिलक का सामाजिक दर्शन भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्टता तथा उसके दार्शनिक परंपराओं और मूल्यों में विश्वास करता है। तिलक पश्चिम के अंधानुकरण के प्रबल विरोधी थे तथा अन्य सुधारकों की तरह भारतीय संस्थाओं का अंग्रेजीकरण कर उसका विनाश नहीं करना चाहते थे। तिलक का सामाजिक दर्शन मदिरापान का विरोधी है तथा वह अस्पृश्यता का भी विरोध करता है । तिलक ने ब्रिटिश सरकार की आबकारी नीति की आलोचना की है तथा मदिरालय के समक्ष अहिंसक धर्मों के आयोजनों पर बल दिया है। तिलक के अनुसार कन्याओं का विवाह 14 वर्ष की आयु से पूर्व ना हो तथा लड़कों का विवाह 20 वर्ष की आयु के पूर्व किया जाए। अगर कोई मनुष्य फिर से विवाह करना चाहे तो उसे एक विधवा से ही विवाह करना चाहिए। तिलक ने दहेज की प्रथा को समाप्त करने संबंधी प्रस्ताव को भी आगे बढ़ाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि तिलक न तो समाज सुधार विरोधी थे बल्कि एक महान समाज सुधारक थे।

प्राय: आलोचकों द्वारा यह आक्षेप लगाया जाता है कि तिलक सामाजिक जीवन में सुधारों के विरोधी थे। वास्तव में तिलक समाज-सधार के विरोधी नहीं थे, वरन् समाज-सुधार के सम्बन्ध में उनका अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। वे सामाजिक सुधारों को उचित सामाजिक शिक्षण के माध्यम से क्रियान्वित कराना चाहते थे। उनका विचार था कि समाज-सधार का कार्य धीरे-धीरे और व्यक्तियों को मनोभावनाओं में परिवर्तन करते हए ही सम्भव है।

समाज-सधार थोपे नहीं जा सकत, यह कार्य तो शिक्षा की प्रगति के साथ धीरे-धीरे सम्भव है। तिलक के अनुसार समाज-सधार के कार्य में शक्ति व्यय न करके पहले समर्ण शक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में लगा दी जाए।

6.8 तिलक का योगदान

बाल गंगाधर तिलक की पहले राष्ट्रीय नेता हैं जिन्होंने भारत में स्वराज की अलख जगाई तथा उनमें आत्मविश्वास, आत्म सामर्थ्य , आत्मसम्मान, आत्मानुशासन और आत्म त्याग की भावनाएं पैदा की । तिलक के लिए स्वराज्य विचार या नारा नहीं था बल्कि यह उनके जीवन का चरम लक्ष्य था । इस प्रकार वे यथार्थवादी राजनीति के समर्थक हैं तथा राजनीतिक आंदोलनों के जनक के रूप में उन्हें माना जाता है। तिलक भारत में राष्ट्रवाद के रूप में राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा देते हैं ।

स्पष्ट है कि बाल गंगाधर तिलक राजनीति में क्रान्तिकारी किन्तु सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में अनुदार थे। वे आधुनिक भारत के निर्माता थे। वे उग्र थे, परन्तु हिंसक नहीं। वे राष्ट्रभक्त एवं देशभक्त थे, परन्तु उदारवादियों की तरह राजनीतिक भिखारी नहीं। उनमें राजनीतिक आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत समन्वय था। उनमें पैनी सूझ-बूझ,विशाल बोद्धिक क्षमता तथा गहन विद्वता थी। विट्ठलभाई पटेल के शब्दों में, "लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व महान् था। राजनीति को आराम कुर्सी वाले राजनीतिज्ञों के कमरे से जनता तक ले जाने का श्रेय तिलक को प्राप्त है।" श्री रामगोपाल ने लिखा है, 'गांधीजी ने तिलक की मृत्यु के बाद जो आन्दोलन किए वे सब तिलक ने पहले ही कर लिए थे। उनका जीवन दिव्य जीवन था और उनके देशवासियों ने उन्हें न केवल लोकमान्य की उपाधि दी, वरन् उन्हें तिलक भगवान् कहकर भी पुकारा। वे चारों ओर से अंधेरे में प्रकाश की ज्योति की तरह सामने आए।"

मुम्बई के गवर्नर ने भारत मन्त्री को लिखा था, तिलक मुख्य षड्यन्त्रकारियों में से है या सबसे मुख्य षड्यन्त्रकारी हैं। उसके गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव, पैसा, फण्ड और राष्ट्रीय स्कूल, इन सबका एक ही उद्देश्य है-अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंका जाए। सन् 1908 में मार्टिन लीडर समाचार-पत्र ने लिखा था, "तिलक का निजी प्रभाव देश पर अन्य सभी राजनीतिज्ञों से बढ़कर है। वे दक्षिण के सबसे प्रमुख व्यक्ति हैं और मुम्बई से लेकर बंगाल की खाड़ी तक प्रत्येक गरम विचारों वाला उनकी धार्मिक भावना से पूजा करता है। सूरत में राष्ट्रीय कांग्रेस की फूट उनका ही काम था। उन्होंने ही इसकी योजना बनाई,उन्होंने ही इसका प्रचार किया और उन्होंने ही उस असाधारण आन्दोलन को दिशा दी,जिसके विरुद्ध नौकरशाही अब अपने सब साधों को एकत्रित कर रही है। वे एक साथ विचारक भी हैं और योद्धा भी।" श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने लिखा है, "यदि भारतवर्ष की जनता में राजनीतिक चेतना काफी मात्रा में होती तो तिलक क्रॉमवेल की भाँति भारत में सफल नायक होते।"

अभ्यास प्रश्न

11. गरम दल में लोकमान्य तिलक के साथ कौन – कौन शामिल थे?
12. 'भारतीय अशान्ति का जनक' किसे कहा जाता है?
13. 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' का नारा किसने दिया ?
14. तिलक द्वारा प्रारंभ दोनों समाचार पत्र क्या थे ?
15. तिलक की सर्वोत्कृष्ट रचना क्या है?

6.9 सारांश

बाल गंगाधर तिलक राजनीति में राजनीतिक आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत समन्वय था। उनमें पैनी सूझ-बूझ,विशाल बोद्धिक क्षमता तथा गहन विद्वता थी। विट्ठलभाई पटेल के शब्दों में, "लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व महान् था। राजनीति को आराम कुर्सी वाले राजनीतिज्ञों के कमरे से जनता तक ले जाने का श्रेय तिलक को प्राप्त है।" बाल गंगाधर तिलक बाल विवाह के विरुद्ध थे । उन्होंने अपने कई भाषणों में इस सामाजिक कुरीति की निंदा की. वह एक अच्छे लेखक भी थे । उन्होंने मराठी में **केसरी** और अंग्रेज़ी में **द मराठा** के माध्यम से लोगों की राजनीतिक चेतना को जगाने का काम शुरू किया था । बाल गंगाधर ने बंबई में अकाल और पुणे में प्लेग की बीमारी के दौरान देश में कई सामाजिक कार्य किए जिनकी वजह से लोग उन्हें आज भी याद करते हैं ।

असल मायनों में आधुनिक भारत की नींव रखने वाले लोकमान्य तिलक को देश आज भी याद करता है। आज के नेताओं को इस महान शख्स से सबक लेने की जरुरत है । वर्तमान समय में तिलक के विचारों की प्रासंगिकता बनी हुई है। स्वदेशी उत्पादों और स्वदेशी आंदोलन के प्रति तिलक का रूख आज के भारत की 'आत्मनिर्भर भारत' की संकल्पना को आगे बढ़ाने में मदद कर सकता है। इस प्रकार, आर्थिक राष्ट्रवाद के पुनरुद्धार में तिलक की विचारधारा को समाहित किया जा सकता है। तिलक अस्पृश्यता के कट्टर विरोधी थे, यही कारण था कि उन्होंने जाति और संप्रदायों के आधार पर विभाजित समाज को एकजुट करने के लिये एक बड़ा आंदोलन चलाया। वर्तमान समय में भी इस तरह के व्यवहार को अपनाने की ज़रूरत है ताकि भारतीय समाज को एकजुट किया जा सके। उन्होंने समाजवाद के अस्त्र को भारत के स्वाधीनता संग्राम और सामजिक क्रांति- इन दोनों मोर्चों पर प्रयोग के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया परंतु इन प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देने के लिए जिस स्वच्छ और त्यागमय राजनीति की आवश्यकता है, वह आज विलुप्त है ।

6.10 शब्दावली

उदारवाद - एक विचारधारा जो व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता , लोकतान्त्रिक शासन , राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में क्रमिक सुधार पर बल देता है।

अतिवाद – राजनीति में अतिपंथी (अति वाम या अति दक्षिण) होने की स्थिति ,

ढ़ांचा - संरचना

नरमपंथी – राजनीति में अतिवादी तरीकों का विरोध कर संयम की राजनीति करनेवाला।

6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लाला लाजपत राय और बिपिन चन्द्र पाल 2. बाल गंगाधर तिलक 3. बाल गंगाधर तिलक
4. मराठा और केसरी 5. गीता-रहस्य

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वी.पी.वर्मा , 2000, *आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तक* , लक्ष्मी नारायण, आगरा .
2. ए. अवस्थी एवं आर. के. अवस्थी ,1996, *भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, रिसर्च पब्लिकेशन्स , जयपुर
3. ए. अप्पादोराय , 2002, *पोलिटिकल थॉट इन इंडिया* , खामा पब्लिशर्स , दिल्ली.

6.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओ. पी. गाबा, 2005, *राजनीतिक विचारक विश्व कोश* , मयूर पेपर बैक , दिल्ली.
2. विष्णु भगवान, 2002,*भारतीय राजनीतिक विचारक* , आत्माराम एण्ड संस , दिल्ली.
3. पुखराज जैन, 2012,*प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक* , एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा .
4. पी. के. चड्ढा एवं इन्द्रजीत सिंह सोढ़ी, 2007, *प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक*, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर .

6.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. "बाल गंगाधर तिलक राजनीति में क्रान्तिकारी, किन्तु सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में अनुदार थे।" इस कथन की समीक्षा कीजिएI
2. "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।"-तिलक के इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. तिलक की स्वराज्य सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
4. तिलक के समग्र राष्ट्रवाद की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ।
5. तिलक भारतीय अशान्ति के जनक थे।" इस कथन के आलोक में एक उग्रवादी विचारक के रूप में तिलक के योगदान की समीक्षा कीजिए।

इकाई 7 : स्वामी दयानन्द सरस्वती

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय
7.3 स्वामी दयानन्द सरस्वती **की रचनाएँ**
7.4 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार
7.4.1 राष्ट्रवाद
7.4.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र
7.4.3 लोकतंत्र
7.4.4 ग्राम प्रशासन
7.4.5 ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता
7.4.6 सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत
7.4.7 वैदिक सार्वभौमवाद
7.5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार
7.6 स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचार
7.7 स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.12 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.13 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

स्वामी दयानंद सरस्वती एक महान शिक्षाविद, समाज सुधारक और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी थे। भारतीय राजनीतिक चिंतन में उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है । वैदिक संस्कृति के महान उद्धारक तथा एक महान देशभक्त और राष्ट्र निर्माता के रूप में उनकी छवि विश्व प्रसिद्ध है । डॉक्टर राधाकृष्णन के अनुसार "स्वामी दयानंद एक महान सुधारक और प्रखर क्रांतिकारी महापुरुष तो थे ही, साथ ही उनके हृदय में सामाजिक अन्याय को उखाड़ फेंकने की प्रचंड अग्नि भी विद्यमान थी। उनकी शिक्षाओं का हम सबके लिए भारी महत्व है । उन्होंने हमें यह महान संदेश दिया था कि हम सत्य की कसौटी पर कसकर ही किसी बात को स्वीकार करें ।" विमान बिहारी मजूमदार के शब्दों में "स्वामी दयानंद ने राज्य के उद्देश्यों को जितना व्यापक स्वरूप प्रदान किया है वैसा प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक समय के किसी राजनीतिक विचारक ने नहीं दिया ।" उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत का न केवल गुणगान किया है बल्कि भारतीयों को आत्मविश्लेषण करके अपने दोषों तथा कमियों को देखने का भी आह्वान किया। उन्होंने समाज को तोड़ने वाली प्रवृत्तियों का जोरदार खंडन किया तथा देशवासियों को आत्मग्लानि, निराशा तथा हीन भावना से मुक्त कराने में योगदान दिया। दयानंद सरस्वती ने न केवल भावी राजनीति की रूपरेखा प्रस्तुत की बल्कि धर्म, दर्शन, शिक्षा एवं राजनीति के विविध आयामों का प्रतिरूप हमारे समक्ष रखा। आर्य समाज के संस्थापक के रूप में उन्होंने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में नवीन विचारों का सूत्रपात किया।

7.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को भारतीय राजनीतिक विचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। स्वामी दयानंद सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक, महान चिंतक, समाज-सुधारक और देशभक्त थे। इस अध्याय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार यथा राष्ट्रवाद ,प्रबुद्ध राजतन्त्र, लोकतंत्र , ग्राम प्रशासन , ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता, सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत एवं वैदिक सार्वभौमवाद सम्बंधित विचार पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा ।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको

i. स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।
ii. साथ ही आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचारों के बारे में जान सकेंगे।
iii. आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचारों के बारे में जान सकेंगे तथा
iv. स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान से भी आप अवगत होंगे ।

7.2 स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय

आर्य समाज के संस्थापक और आधुनिक पुनर्जागरण को दिशा देने वाले महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती जी का जन्म 12 फरवरी 1824 को गुजरात में मोराबी के टंकारा गांव में कृष्णलाल जी तिवारी और अमृतबाई के घर हुआ था। मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम मूलशंकर रखा गया था। स्वामी दयानंद का परिवार अत्यंत रूढ़िवादी था तथा उनके पिता परम शिव भक्त थे। दयानंद के पिता एक कर-कलेक्टर होने के साथ ब्राह्मण परिवार के एक समृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति थे। जिसके चलते दयानंद ने संस्कृत, वेद, शास्त्रों एवं अन्य धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन बिना किसी परेशानी के किया। बचपन से ही उनके पिता की शिवभक्ति से वे भी प्रेरित हुए। स्वामी दयानंद के जीवन में ऐसी बहुत सी घटनाएँ हुईं, जिनकी वजह से उन्होंने समाज के कई मूल्यों पर प्रश्न उठायें और ज्ञान की खोज में निकल पड़े । एक अप्रत्याशित घटनाक्रम ने उन्हें मूर्ति पूजा का घोर विरोधी बना दिया तथा उनकी बहन और चाचा की मृत्यु ने यह बोध कराया कि जीवन में कुछ भी शाश्वत नहीं है । तत्पश्चात उन्होंने 1846 में गृह त्याग दिया और ज्ञान सत्य तथा मोक्ष की तलाश में अग्रिम यात्रा पर चल पड़े।

1856 में स्वामी दयानंद नाना साहब से मिले और दोनों ने मिलकर सन्यासियों द्वारा गुप्त रूप से रोटियों में गुप्त संदेशों को भेजने की योजना बनाई । सैनिक प्रतिष्ठानों में साधु के वेश में क्रांति की ज्वाला भड़काने में स्वामी दयानंद की भूमिका महत्वपूर्ण थी। परंतु 1857 की क्रांति में असफलता मिलने पर दयानंद निराश हो गए । उन्होंने अनुभव किया कि देश में एक विचारधारा, एक जाति, एक संगठन, एक भाषा और एक राष्ट्र का सर्वथा अभाव है । कुरीतियों ने सामान्य जनजीवन को निर्जीव बना दिया है। इन समस्याओं के समाधान की कोशिश में दयानंद सरस्वती संपूर्णानंद आश्रम पहुंचे , जहां उन्हें विरजानन्द जी के पास मथुरा जाने के लिए कहा गया । यहीं से उनके जीवन का एक नया अध्याय प्रारंभ हो जाता है । अनंतर स्वामी दयानंद सरस्वती ने सारे भारत में घूम- घूम कर प्राचीन सभ्यता एवं आरे ग्रंथों का प्रचार प्रसार प्रारंभ कर दिया । उनके जीवन के पश्चात उनके विचार समाप्त न हो जाएं, इस उद्देश्य से उन्होंने अपने अनुयायियों को एक मंच पर एकत्रित करने के लिए मुंबई में 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज निरंतर स्वामी दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में प्रगति करता रहा । आर्य समाज की सफलता विशेषकर उत्तर भारत के पंजाब, संयुक्त प्रांत तथा राजपूताना जैसे राज्यों में देखकर तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के समर्थक स्वामी दयानंद सरस्वती से घोर ईर्ष्या करने लगे तथा उन्हें मारने के विविध प्रयास करते रहे । अंततः 30 अक्टूबर 1883 को अजमेर में उनका स्वर्गवास हो गया। यह मृत्यु स्वभाविक नहीं थी क्योंकि उनके भोजन में जहर दे दिया गया था किंतु भारत के इस महान ऋषि ने अपने प्राणहंता को क्षमा देकर अपनी महानता को और भी आलोकित कर दिया। भारतीय ज्ञान राशि का यह दिव्य सितारा दीपावली के दिन ही बुझ गया।

7.3 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ

स्वामी दयानंद सरस्वती के दर्शन को उनके तीन प्रसिद्ध योगदान - सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका और वेद भाष्य से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'आर्य पत्रिका' भी उनके विचारों एवं दर्शन को प्रकट करती है।स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के दो अध्याय - अध्याय 2 और 3 को शिशुओं और किशोरों के लिए शिक्षा के विषय हेतु समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त एक प्रतिष्ठित लेखक के रूप में उपरोक्त कार्य एक शैक्षिक और धार्मिक लेखक के रूप में उनकी भूमिका का संकेत देते हैं।

7.4 स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

फ्रांसीसी विचारक रोम्यॉ रोलॉ का कथन है कि, "दयानन्द सरस्वती ईलियड या गीता के प्रमुख नायक समान थे, जिन्होंने हरक्युलिस जैसी शक्ति के साथ हिन्दुओं ने अन्धविश्वासों पर प्रबल प्रहार किए। वास्तव में शंकराचार्य के उपरान्त इतनी महान बुद्धि का सन्त दूसरा नहीं जन्मा।" वह आधुनिक भारत के सबसे महान ऐसे पथ-निर्माता माने जाने जाते हैं, जिसने जातियों, उपजातियों, छुआछूत, आदि के बीहड़ वनों को चीर कर भारत के पतन-काल में ईश्वराधना, देश-भक्ति तथा मानव सेवा का सहज मार्ग बताया। इन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि और दृढ़ संकल्प के साथ कोटिशः भारतीयों को आत्म सम्मान तथा मानसिक चेतना को उद्बुद्ध भी किया। दयानन्द जी ने देशवासियों में राष्ट्रवाद का संदेश ऐसे समय में दिया जबकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। ईसाई सभ्यता और संस्कृति भारतीयों का ईसाईकरण प्रारम्भ कर चुकी थी और देश के प्रमुख राज्य अंग्रेजी कम्पनी के चाकर बन गए थे। ऐसे कठिन समय में उन्होंने हिन्दुओं में नवजीवन के प्राण फूके, भारत भूमि की कीर्ति और महिमा समझाई तथा देशवासियों को भारत का स्वर्णिम इतिहास बताया। उन्होंने हमें यह भी बताया कि वास्तव में आर्य जाति ही ईश्वर प्रिय सर्वोत्तम सृष्टि और प्रिय जाति है। वेद ही उनकी वाणी है तथा भारत देश ही ईश्वर को है। अन्य धर्म आधे-अधूरे मात्र हैं, अतः आर्यों का कर्तव्य है कि वे उन्हें आर्य धर्म में दीक्षा प्रदान करें।

दयानन्द के समय में हिन्दू समाज को मुस्लिम एवं ईसाई दोनों का आक्रमण सहना पड़ रहा था, अतः दयानन्द जी ने सुरक्षा की नीति को छोड़कर आक्रमण की नीति का अनुगमन किया। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक घोषित किया कि केवल वैदिक धर्म ही सर्वदेशिक है और सत्य भी। इस प्रकार उन्होंने वैदिक धर्म की पुनः स्थापनार्थ लड़ाकू भारत की धारणा को बल दिया। उन्होंने कहा 'वेदो के युग में लौटो'। इस प्रकार उन्होंने भारत में नवजागरण की ज्वाला उत्पन्न की। शीघ्र ही उनके नवजागरण के सन्देश ने भारत में राष्ट्रवादी भावनाओं को पल्लवित करना आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने विविध राजनीतिक विषयों पर अपने विचार रखें जिसे निम्न शीर्षकों में समेत जा सकता है :

7.4.1 राष्ट्रवाद

दयानंद तकनीकी अर्थ में एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे । उन्होंने राजनीतिक सिद्धांत के संग्रह में किसी क्रमबद्ध ग्रंथ की रचना नहीं की किंतु अपनी रचनाओं और कभी- कभी निजी वार्तालाप के दौरान उन्हें राजनीतिक विचार अवश्य व्यक्त किए हैं। उनकी रचना सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेद आदिभाष्य भूमिका दोनों में 11 अध्याय ऐसे है जिसमें राजनीतिक विचारों की व्याख्या की गई है।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने सदैव इस बात पर बल दिया है की आंतरिक महत्ता बाह्य प्रमुखता की अपरिहार्य शर्त है। दयानंद का आत्मिक जीवन एक ओर राष्ट्रवाद को मजबूत करता है वहीं दूसरी और राष्ट्रवाद से भी अधिक एकात्मकता का संदेश देता है। उनके अनुसार कर्मांत और वेदांत का सम्मान केवल मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को उन्नत बनाता है बल्कि राष्ट्र के लिए सर्वाधिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है । दयानंद ने राष्ट्रवाद को स्वदेशी एवं भारतीय अभिमुखीकरण प्रदान किया । उनका राष्ट्रवाद पश्चिमी राष्ट्रवाद का अनुकरण मात्र नहीं है । दयानंद ने अपने दृष्टिकोण द्वारा भारतीयों को प्रथम बार यह अनुभव करने के लिए विवश किया है कि वे गौरवपूर्ण परंपरा के उत्तराधिकारी हैं । दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया । स्वामी दयानंद सरस्वती प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज की नई अवधारणा प्रदान की और यह उद्घोष किया कि सुराज कभी स्वराज का स्थान नहीं ले सकता। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया । उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट , दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। उनका मानना था कि चाहे दूसरे लोग कितना भी अच्छा साधन क्यों न करें , स्वशासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन है।

'स्वशासन' तथा 'स्वराज्य' की पुकार सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के द्वारा उठाई गई थी। उन्होंने यह उद्घोष उस समय किया था जब कोई भी व्यक्ति यह साहस नहीं कर सकता था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कुछ कहे। उनका यह शक्तिशाली तथा निर्भीक कथन था "विदेशी सरकार चाहे सब में प्रकार से धार्मिक, पक्षपातों से मुक्त तथा देशी व विदेशी लोगों के प्रति निष्पक्ष ही क्यों न हो, लोगों को पूर्ण रूप से प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकती। स्वामी जी के ये सभी विचार राष्ट्रवादी थे। भारत पर गर्व करो, प्राचीन वैदिक संस्कृति का अनुसरण करो तथा भारत को फिर से उन्नत करने का प्रयास करो।" इन्हीं विचारों का स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण जनता में प्रचार किया जिससे लोगों के मन में विदेशी शासन के प्रति आक्रोश उत्पन्न हुआ और आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। राष्ट्रीय चेतना की भावना को जागृत करने में भारत के प्राचीन वैभव एवं शौर्य के प्रति जनता को शिक्षित करके स्वामी दयानन्द ने महत्वपूर्ण कार्य किया था। वेलेटाइन शिरोल ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। कि

स्वामी दयानन्द की शिक्षाएं महान् राष्ट्रवाद से ओत प्रोत थी। उनका यह कथन स्मरणीय है: "दयानन्द की शिक्षाओं का महत्वपूर्ण प्रवाह हिन्दूवाद को सुधारने की अपेक्षा इसे सक्रिय विरोध के क्रम में रखना था जिससे कि यह विदेशी प्रवाहों को रोक सके जो कि उनके विचार में इसे अराष्ट्रीय बनाने की धमकी दे रहे थे। मुस्लिमकाल में हिन्दू धर्म पर अत्याचार तथा उसका विनाश, 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की असफलता के पश्चात् की दशा तथा ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य कलाप और शासन की ओर से उनकी सहायता के फलस्वरूप समाज और धर्म की जो हानि हो रही थी उसे देखकर स्वामी जी ने अनुभव किया कि धर्म ही सब प्रकार की विपत्तियों से रक्षा कर सकता है, अत उनके धार्मिक पुनर्जागरण के प्रयास में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का दूरगामी प्रभाव भी था। उनके विचार से पारस्परिक फूट, शिक्षा की कमी, जीवन में शुद्धता का अभाव, धर्म से विमुखता तथा अन्य धार्मिक कुरीतियों के कारण भारत का पतन हुआ था।

भारतीय राष्ट्रवाद को स्वामी दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम नई दिशा प्रदान की। उन्होंने भारतीयों की हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करने और देश में नवजागरण फूटने का महान कार्य किया। भारत के निराशाजनक और अवसाद ग्रस्त समय में हिंदू पुनरुत्थान बाद के महान प्रवक्ता थे जिन्होंने देश वासियों को अपने देश के धर्म संस्कृति और गौरवपूर्ण अतीत की ओर ध्यान आकर्षित किया। स्वामी दयानंद सरस्वती का विचार था कि आत्मविश्वास के अभाव में स्वराज कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में दयानंद ने भारत के गौरव पूर्ण अतीत के खोए हुए आत्मविश्वास को जगाया । उनका मानना था कि भारतीय राजनीतिक रूप से जागरूक और शक्तिशाली हो तो स्वराज प्राप्ति में समय नहीं लगेगा । स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे। वे उस राष्ट्रवादी परंपरा के जनक थे, जिसका चरमोत्कर्ष लोकमान्य तिलक, बिपिन चंद्र पाल, महर्षि अरविंद और लाला लाजपत राय में देखते हैं।

7.4.2 प्रबुद्ध राजतन्त्र

स्वामी दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति और वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है । मनुस्मृति से उन्होंने राजतंत्र का सिद्धांत ग्रहण किया। उन्होंने एक ऐसे दिग्विजय राजा की आदर्श का समर्थन किया , जो धर्म के अनुसार और मंत्रियों के सहयोग से शासन करता है । दयानंद ने राजतंत्र का समर्थन किया लेकिन उनका राजतंत्र कोई निरंकुश राजतंत्र नहीं है । इसमें राजा पर धर्म और मंत्रियों का पूरा अंकुश है और वह मनमानी नहीं कर सकता। इस प्रकार वेदों में वर्णित राजा के निर्वाचन को उन्होंने स्वीकार किया है और यह माना है कि सभा में से योग्यतम व्यक्ति को ही राजा चुना जाए।

वैदिक संस्कृति की मान्यता के अनुसार दयानंद सरस्वती ने यह स्वीकार किया कि राजनीतिक सत्ता की आध्यात्मिक एवं नैतिक सत्ता की सहायता से कार्य किया जाना चाहिए,

तभी राज्य कार्य उचित प्रकार से संभव है। उन्होंने राजनीति और नैतिकता को कभी अलग नहीं माना। दयानंद के अनुसार शासक और शासन के लिए सर्वोपरि लक्ष्य मानव कल्याण है और इसके अभाव में शासन का कोई अर्थ नहीं है । दयानंद ने धर्म को इतना महत्वपूर्ण माना है कि धर्मनिरपेक्षता पर आधारित राष्ट्र को भी स्वीकार नहीं कर सके।

मनुस्मृति के दर्शन से प्रेरित स्वामी दयानंद ने राजा के निश्चित गुणों की अनिवार्यता के प्रति संकेत करके राजतंत्र को मर्यादित किया और उसे जन शिक्षा को सम्मान देते हुए राज्य का चलाने की प्रेरणा देकर राजतंत्र को प्रबुद्ध अथवा जागरूक बनाया । दयानंद धर्म को संकेत नहीं बल्कि उदात्त रूप में ग्रहण किया और मानव धर्म में आस्था रखते हुए समानता और न्याय का पोषण किया। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के बीज़ दयानंद ने वेदों से ग्रहण किए जिसमें राजाओं के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

7.4.3 लोकतंत्र

दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम प्रजातांत्रिक शासन पद्धति के आधार पर आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म और संस्कृति की आधारशिला रखते हुए राष्ट्रीयता के सुंदर , सुदृढ़ एवं अजेय दुर्ग के निर्माण की अभूतपूर्व योजना बनाई थी । दयानंद ने लोकतंत्र को वर्ग विशेष या जाति विशेष का समर्थक नहीं बनाया बल्कि तथाकथित दलितों के लिए भी उसके द्वार खोल दिए । स्वामी दयानंद का लोकतंत्र व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता बल्कि व्यक्ति को स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान करता है । उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए । उन्होंने शासन के तीन प्रमुख अंग- धर्मार्थ सभा, विदयार्थ सभा और राज़्यार्थ सभा स्वीकार किए हैं और तीनों के संगठन का आधार निर्वाचन को माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उस लोकतंत्र के निर्माण, स्वरूप, शासन तथा न्याय सम्बन्धी धारणाओं की विवेचना की है जिसकी वे भारत में स्थापना करना चाहते थे। वह उनका आदर्श लोकतन्त्र था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के चिन्तन, मनन और व्यवहार में वे तीन आदर्श समान रूप से देखे जाते हैं जिन पर वर्तमान लोकतंत्र आधारित है। वे हैं - स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस लोकतन्त्र की कल्पना की थी उसमें यह व्यवस्था है कि जनसाधारण स्वतन्त्रता को समान आधार पर भोग सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सभी उचित कार्यों के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई शक्ति इसमें बाधक नहीं हो सकती। स्वामी जी ने एकाधिकारवाद एवं विशेषाधिकारवाद की प्रवृत्तियों को स्वीकार नहीं किया जिससे कि समानता आ सके। उनका लोकतंत्र प्रत्येक वर्ग, वर्ण, धर्म, जाति तथा लिंग के लिए मान है और उसमें यह नितान्त आवश्यक है कि समानता के आदर्श पर सभी आचरण करें। स्वामी दयानन्द सरस्वती भ्रातृत्व की भावना को आवश्यक मानते थे जिससे सामाजिक जीवन गतिशील बना है। उनके लोकतन्त्र के प्रारूप का मूल स्रोत 'मनुस्मृति' है जिसकी शिक्षा के अनुसार ही उन्होंने यह व्यवस्था रखी है कि राज्य व्यवस्था में सभासदों तथा मन्त्रियों का

आचरण मर्यादित हो। नैतिकता के आधार पर धार्मिक मान्यताओं का समर्थन भी 'मनुस्मृति' के अनुकूल ही है।

7.4.4 ग्राम प्रशासन

स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्रजातांत्रिक आदर्शवाद से प्रेरित होकर ग्राम प्रशासन की परिकल्पना की थी। सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद ने ग्राम प्रशासन का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, जनता द्वारा पहल, प्रशासन पर जनता का नियंत्रण और जनसभा जैसे प्रशासनिक सिद्धांतों का समन्वय दिखाई देता है। स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित ग्राम प्रशासन पर्याप्त सुनियोजित और वैज्ञानिक प्रतीत होता है जिसमें शक्ति का उचित प्रकार से प्रत्यायोजन किया गया है, जिससे शासन सुचारू रूप से चलाई जा सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती देश में ग्राम पंचायतों के समर्थक थे। उन्होंने महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित ग्राम प्रशासन व्यवस्था को उचित माना और तत्सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत करते हुए कहा 'एक'-एक ग्राम में एक प्रधान पुरूष को रखें। उन्ही देश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवा पुरूष रक्खे अर्थात् जैसे एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, दो थानों पर एक बड़ा थाना, पाँच थानों पर एक तहसील, दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का चिन्तन स्थानीय शासन के विषय में ऐसा था। इसे न्यूनाधिक रूप में हमारे संविधान में अपनाया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती इस व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए आगे व्यवस्था देते हैं कि एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो जो दोष उत्पन्न हों, उन उनको गुप्तता से देश ग्राम के पति को विदित कर दें, और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्त्तमान नित्यप्रति जना देवे, और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्त्तमान को शत ग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सो ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्त्तमान को प्रतिदिन जनाया करे और बीस बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ सौ ग्राम के अधिपति को और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दशसहस्र के अधिपति को और वे दश दश हजार के दश अधिपति लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें, और वे सब राजसभा महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चव्रफवर्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें, और एक एक दश हजार ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरूषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें। बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाल सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा-एक एक घर बनावें, उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा व प्रजा की उन्नति हो, वैसे वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें।''

7.4.5 ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता

स्वामी दयानंद सरस्वती ने ईश्वर की अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। निजी जीवन में दयानंद को अराजकतावादी माना जा सकता है परंतु अराजकतावादियों के समान उन्होंने कभी राज्य विहीन समाज की चर्चा नहीं की और ना ही राज्य के विनाश के कल्पना की। वे एक सन्यासी थे , अतः उनका निजी जीवन या व्यक्ति के जीवन में ईश्वर की सत्ता की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करना स्वाभाविक ही था। यदि ईश्वरीय विधि और राजनीतिक सत्ताधारी की विधि में किसी एक को पालन करने का निर्णय करना पड़े तो दयानंद बिना किसी शर्त के इस पर यह विधि का अनुगमन करेंगे क्योंकि ईश्वर के सार्वभौम प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उसके प्रति भक्ति को सर्वोच्च मानते थे। वे मानते थे कि ईश्वर हमारा राजा है और हम ईश्वर की प्रजा है। स्वामी दयानंद सरस्वती दैविक नियमों की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। उन्होंने दैवी सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को अपने व्यक्तिगत जीवन में महत्व नहीं दिया लेकिन सामाजिक जीवन में राज्य के महत्व में विश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि बिना राज्य के किसी प्रकार के समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती।

7.4.6 सापेक्ष अहिंसा का सिद्धांत

स्वामी दयानंद सरस्वती अहिंसा के निरपेक्षता के सिद्धांत में संशोधन करते हैं। उनका मानना है कि जिस प्रकार ईश्वर पापियों को दंडित करते हैं, उसी प्रकार से अपराधी को भी दंड देने का राज्य को पूर्ण अधिकार है। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। दयानंद ने सार्वजनिक जीवन में उचित हिंसा के सिद्धांत का समर्थन किया तथा व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा के उच्चतम स्वरूप को बनाया। इसलिए उन्होंने उस व्यक्ति को जिसने उन्हें जहर भी दे दिया था , स्वयं वहां से भाग जाने के लिए कहा, जिससे कि उसे कोई हानि न पहुंचे। यह ईश्वर के समान क्षमाशीलता और उच्च अहिंसा का अद्भुत उदाहरण है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अहिंसा की एक व्यावहारिक धारणा प्रस्तुत की। उन्होंने सापेक्ष अहिंसा को व्यावहारिक मानते हुए राजनीतिक मामलों में दंड व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार किया। उनके अनुसार अपराधियों को शारीरिक दंड मिलना ही चाहिए।

7.4.7 वैदिक सार्वभौमवाद

स्वामी दयानंद सरस्वती भारतीय राष्ट्रवाद की प्रबल समर्थक थे परंतु एक राष्ट्र तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने सर्वधर्म सभा का आयोजन किया और हिंदू- मुस्लिम एकता पर बल दिया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि धार्मिक एकता के आधार पर विश्व की एकता के उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते थे। उनका यह अटूट विश्वास था कि सभी धर्मों का शांतिपूर्ण सह अस्तित्व संभव है। दयानंद ने यह अनुभव किया कि भारतीय समाज के दलित और गिरे हुए वर्गों का उद्धार करना सर्वोच्च और तात्कालिक आवश्यकता का विषय है। इस संसार में विशुद्ध वैदिक

धर्म का प्रचार किया जाए। वे विश्व बंधुत्व के आदर्श के महान समर्थक थे किंतु उनके अंतरराष्ट्रीयवाद में विश्व के रास्तों की राजनीतिक संघ की कोई कल्पना नहीं थी।

दयानंद धार्मिक एकता के आधार पर विश्व एकता के इच्छुक हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने देश के विभिन्न धार्मिक नेताओं से विचार विमर्श किए। दयानंद ने मानवता और विश्व बंधुत्व के प्रति अद्भुत लग्न थी और इसकी पूर्ति की दिशा में काम करने में उन्हें सदैव प्रसन्नता होती थी। उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक जगत पर पूर्व और पश्चिम की एकता के निमित्त धर्म उपदेश देने से कभी कोताही नहीं की।

7.5 स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार

स्वामी दयानन्द की गणना भारत के उन महान् पुरुषों में की जाती है जो हिन्दू जाति और हिन्दू राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए अवतरित हुए। उनका भारतीय इतिहास में वही स्थान है जो स्थान महावीर, महात्मा बुद्ध एवं शंकराचार्य को प्राप्त है। वे एक महान् धर्म सुधारक, समाज सुधारक तथा निर्भीक सत्यवादी थे। सामाजिक पुनर्निर्माण के महान लक्ष्य को साधने के लिए स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिए उन पर आक्रमण की नीति अपनाई। भारत में शायद ही कोई राजनीतिक धार्मिक या सामाजिक आंदोलन हुआ हो जो आर्य समाज का ऋणी ना हो। गंगा प्रसाद उपाध्याय के शब्दों में 'आर्य समाज पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के समान था, जो यद्यपि अदृश्य होती है तथापि उसने प्रत्येक आंदोलन को प्रभावित किया।

स्वामी दयानन्द के समय में भारत की राजनीति तथा सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। एक ओर विदेशी शासन के अन्तर्गत देशवासियों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्थापित हो रहा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज कुरीतियों एवं अन्ध विश्वासों का अखाड़ा बना हुआ था। इस विषय परिस्थिति में स्वामी दयानन्द ने भारतीय संस्कृति की रक्षा और प्राचीन गरिमा को पुनः स्थापित करने के लिए सब कुछ लगा दिया। उन्होंने अन्धविश्वास तथा पाखण्डवाद के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन प्रारम्भ किया। स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म के कट्टरता की सीमा तक 'अनुयायी थे। फिर भी कभी उन्होंने कुप्रथाओं का समर्थन नहीं किया। वे हमेशा समाज में फैली कुप्रथाओं का विरोध किया करते थे। वे बाल-विवाह, दहेज प्रथा, बलात वैधव्य जैसी प्रथाओं का कट्टर विरोध करते थे। धर्म सुधार के अतिरिक्त समाज सुधार के क्षेत्र में शिक्षा विशेषकर स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने, स्त्री पुरुष समानता और ऊंच-नीच की समाप्ति एवं जाति प्रथा की समाप्ति के लिए उन्होंने वैचारिक क्रांति एवं सामाजिक परिवर्तन तथा पुन: रचना के मार्ग को हमेशा बढ़ावा दिया। वह समाज सुधार को राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीयता के विकास के लिए अनिवार्य मानते थे।

भारतीय समाज की एक घातक समस्या- जाति प्रथा- की कठोरता को समाप्त करने के लिए स्वामी दयानंद ने अथक प्रयास किए। उनका मानना था कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण होने

योग्य नहीं है तो उसे या तो उसकी जाति से वंचित कर देना चाहिए या उसे उस अपेक्षित स्तर को प्राप्त करना चाहिए। स्वामी दयानंद की शिक्षा में बुद्ध एवं शंकर दोनों का समन्वय है। जहां गौतम बुद्ध ने समानता पर आधारित संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की समाप्ति का प्रयत्न किया, वही दयानंद ने प्राचीन वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए विकृत जाति व्यवस्था की समाप्ति का प्रयास किया है। वे दहेज प्रथा को निर्मूल नष्ट करना चाहते थे तथा इस प्रथा को समाज के लिये अभिशाप बताया करते थे। वे विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया करते थे।

दयानन्द के काल में दलित वर्ग को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपमान और घुटन के वातावरण में रहना पड़ता था। उन्हें समाज में स्वतन्त्र अस्तित्व अथवा व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी। बल्कि उन्हें हीन समझा जाता था। उन्हें मन्दिरों में जाने नहीं दिया जाता था और ना ही उन्हें वेद अध्ययन के योग्य माना जाता था। दयानन्द ने इसे पंडितों और ब्राह्मणों का पाखण्ड जाल बताया। वे कहा करते थे कि जैसे परमात्मा ने सभी प्राकृतिक वस्तुयें समान रूप से प्रत्येक मनुष्य को प्रदान की है, उसी प्रकार वेद सबके लिए प्रकाशित हैं। वे जाति के आधार पर शुद्र नहीं मानते थे किन्तु वे कहते थे, जिसे पढ़ना-पढ़ाना न आये, वह निबुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र है। इस व्याप्त जाति प्रथा के कारण ही हिन्दू समाज असंगठित एवं शक्तिविहीन है। समाज को सशक्त और उन्नत बनाने हेतु जाति प्रथा एवं अस्पृश्यता को नष्ट करना ही होगा।

यद्यपि स्वामी दयानन्द जातिवाद तथा अस्पृश्यता 'आदि कुप्रथाओं के कट्टर विरोधी थे तथापि वे वर्णाश्रम के समर्थक थे। वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक होने पर भी प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध इस बात पर करते थे कि वर्ण कर्म के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये न कि जन्म के आधार पर। वे कर्म के साथ-साथ गुणों एवं प्रकृति का भी ध्यान रखने को कहते थे। यह सर्वविदित है कि आर्य समाज वर्णाश्रम व्यवस्था का इच्छित रूप प्राप्त नहीं कर सका परन्तु उसके बन्धनों को ढीला करने में अवश्य सफल हुआ।

स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का विरोध किया करते थे तथा वे अंधविश्वास तथा पाखण्ड को मूर्तिपूजा के द्वारा ही जन्मा मानते थे। इसलिए वे मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे उनका कहना था— "यद्यपि मेरा जन्म आर्यावर्त में हुआ है और मैं यहाँ का निवासी भी हूँ....."परन्तु मैं पाखण्ड का विरोधी हूँ और यह मेरा व्यवहार अपने देशवासियों तथा विरोधियों के साथ समान है। मेरा मुख्य उद्देश्य मानव जाति का उद्धार करना है।" वे इस पर प्रकाश डालते हुए आगे कहते हैं कि वेदों में मूर्तिपूजा की आज्ञा नहीं है। अतःउनके पूजन में आज्ञा-भंग का दोष है। इसलिये इसे मैं धर्म विरोधी कृत्य मानता हूँ।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्राचीन भारतीय मूल्यों की स्थापना हेतु अधिकाधिक प्रयास किए। उनके पुनरुत्थान बाद में सभी मध्यकालीन अंधविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अज्ञान से लोहा लिया । उन्होंने भारत वासियों की मानसिक परतंत्रता को समाप्त कर दिया ताकि वे स्वतंत्रता की दिशा में अग्रसर हो सके। दयानंद शानदार सपनों के स्वप्न दृष्टा थे जिनके पास

अंधविश्वासों से मुक्त भारत की दृष्टि थी जो ईश्वर भक्ति और विज्ञान से युक्त हो तथा जो स्वशासन के लिए उपयुक्त हो।

स्वामी दयानन्द को भारतीय समाज में नारी की गिरती हुई स्थिति में व्यथित कर दिया। वे नारी के उत्थान के लिये वेदों में निहित इस श्लोक को दोहराया करते थे— **"यत्र नार्यस्तु, पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता।"** अर्थात् "जहाँ नारी की पूजा है, वहाँ देवता निवास करते हैं।" उन्होने पर्दा प्रथा, अशिक्षा, तथा नारी की उपेक्षित और विपन्न होती स्थिति का घोर विरोध किया। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने अनेक नगरों में आर्य कन्या स्कूलों की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने स्त्री शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार किया। उन्होंने नारी को समान अधिकार दिलवाये। नारी से सम्बन्धित अनेक कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन चलाकर आर्य समाज ने स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलवाया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने नारी उद्धार के लिए अनेक प्रयत्न किये।

स्वामी दयानन्द जी समाज के सर्वांगीण विकास के समर्थक थे। वे शिक्षा का ऐसा रूप चाहते थे जिससे बौद्धिक के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास भी हो। इसलिए वे पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के विरुद्ध थे। वे व्यवस्था पर जोर देते वे अनिवार्य और निः शुल्क शिक्षा के समर्थक थे। गुरुकुल शिक्षा वे स्वयं गुजराती होते हुए भी आर्य भाषा के समर्थक थे। इसलिए उन्होंने अपनी समस्त रचनायें आर्य भाषा में कीं। एक बार उन्हें पुस्तकों के अनुवाद अन्य भाषा में कराने को कहा गया जिससे आर्य भाषा न जानने वालों को भी लाभ पहुँचे। उन्होंने आर्य भाषा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है— "अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करता है। नागरी के थोड़े से अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं। जो आर्य भाषा सीखने में थोड़ा भी श्रम नहीं कर सकता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसमें धर्म की लगन है, इसका क्या प्रणाम है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा के सभ्य सम्पादन के लिये ही अपने सफल ग्रन्थ आर्य भाषा में लिखे और प्रमाणित किये हैं।" इस प्रकार दयानन्द जी ने भविष्य पर दृष्टि रखते हुए हिन्दी को मातृभाषा के रूप में अपनाया।

इस प्रकार दयानन्द एक महान् समाज सुधारक, देशभक्त तथा ईश्वरीय दूत के रूप में प्रकट हुए। स्पष्टतः दयानन्द उच्च श्रेणी के निर्भीक दूत एवं समाज सुधारक थे।

7.6 स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचार

स्वामी दयानंद सरस्वती आध्यात्मिक चिंतक, धर्म सुधारक एवं समाज सुधारक थे। वे प्लेटो और अरस्तू की भांति राजनीतिक विचारक या चिंतक नहीं थे। वे नेहरू के समान एक राजनीतिज्ञ भी नहीं थे । उनका जीवन राजनीतिमय नहीं था। राजनीति उनके लिए कभी प्रमुख नहीं रही परंतु समग्र जीवन चिंतन में राजनीति को पृथक नहीं किया जा सकता। अतः

राजनीतिक विचारों का निर्माण दार्शनिक आधार पर ही हुआ। दयानंद सरस्वती एकेश्वरवादी ,मूर्ति पूजा विरोधी और निराकार पूजक थे । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप हिंदू पुनरुत्थानवादी के रूप में स्पष्ट होता है। जिस समय संपूर्ण भारत अंग्रेजों का मानसिक गुलाम बन चुका था, उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के गौरव में अतीत का स्मरण दिला कर 'वेदों की ओर लौट चलो' का मूल मंत्र प्रदान किया। उन्होंने आध्यात्मिकता और वैज्ञानिकता का समन्वय कर आत्मा के ज्ञान को बताया बल्कि सम्यक कर्म को भी आवश्यक समझा। दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया। उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट , दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे।

7.7 स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान

स्वामी दयानंद सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक, महान चिंतक, समाज-सुधारक और देशभक्त थे। इन्होंने बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियों को दूर करने में एक अहम भूमिका निभाई थी। एक सन्यासी और महान चिन्तक के रूप में जाने जाने वाले स्वामी जी ने कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, ब्रह्मचर्य तथा सन्यास को अपने दर्शन के चार स्तम्भ बनायें। उन्होंने ही सबसे पहले 1876 में 'स्वराज्य' का नारा दिया जिसे बाद में लोकमान्य तिलक ने आगे बढ़ाया। इन्होंने ही सन् 1876 में स्वराज के लिए भारत के लिए भारतीयों यानी India For Indians को शुरू किया था जिसे बाद में लोकमान्य तिलक द्वारा चलाया गया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों को सर्वोच्च माना। साथ ही वेदों का प्रमाण देते हुए समाज में कई कुरीतियों का कड़ा विरोध भी किया। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा जिसे स्वामी दयानन्द से कुछ प्राप्त न हुआ हो और प्रत्येक को जो प्राप्त हुआ वह इस महान् ही था। धर्म की और ही उनका ध्यान सर्वप्रथम गया था। इस क्षेत्र में उनकी तीन महान् देन थीं। रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विरोध, वैदिक धर्म की सर्वश्रेष्ठता की स्थापना तथा धर्म के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन। सामाजिक क्षेत्र में स्वामी जी ने जातीय भेदभाव ऊंच नीच की भावना तथा बाल विवाह जैसी कुरीतियों का घोर विरोध किया। उन्होंने प्रयत्न किया कि नारी जाति शिक्षित हो तथा गरिमामय बने। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कुछ किया। श्री अरविन्द घोष का कथन -"उनमें स्वामी दयानन्द में राष्ट्रीयता की भावना थी। उस अनुभूति को उन्होंने राष्ट्रीय भावना के सन्दर्भ में ज्योतिमर्य बना दिया। उनकी कृतियाँ भले ही वह कितनी भी मान्यताओं से भिन्न हों, वास्तव में राष्ट्रीय भावना को समर्पित है।" स्वराज्य की भावना के सर्वप्रथम प्रचारक वे ही थे। उन्होंने

स्वदेशी वस्तुओं का आन्दोलन चलाया उससे राष्ट्रीय भावना का सम्पूर्ण भारत में प्रसार हुआ। राजनीतिक के क्षेत्र में उनकी यह सब देन महानतम् हैं।

बम्बई में आर्य समाज की स्थापना 10 अप्रैल, 1875 को करके स्वामी दयानन्द ने बहुत ही महत्वपूर्ण एवं दूरदर्शिता का कार्य किया। उनके पश्चात् भी यह संस्था उनके विचारों का सर्वत्र प्रचार कर रही है तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत कर रही है। यह संस्था आज भी भारतीय समाज को जागृत रखने का महत्वपूर्ण कार्य उत्तरदायित्व के साथ कर रही है। स्वामी की इन दोनों को ध्यान में रखे तो हमें यही अनुभव होता है कि स्वामी जी वास्तव में एक महान् सुधारक, धर्म रक्षक, देश भक्त ईश्वरीय दूत थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है "आन्तरिक रूप से यह एक सुधारवादी आन्दोलन था तथा बाह्य रूप से आक्रमणों से बचने के लिए एक रक्षात्मक संगठन था।" रोम्मां रोलां ने भी आर्य समाज के कार्य का सच्चा विश्लेषण करते हुए उसे उचित रूप से बहुत सराहा है। उनके अनुसार, "आर्य समाज उस समय राष्ट्रीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्रीय चेतना के महत्वपूर्ण कार्य में महत्वपूर्ण शक्ति थी। स्वामी जी ने राष्ट्रीय संगठन एवं पुनर्निर्माण के लिए यह एक महान कार्य किया। उनके आर्य समाज ने 1905 के बंगाली राष्ट्रवादी आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।"

अभ्यास प्रश्न

1. 'सत्यार्थ प्रकाश' किसकी रचना है ? 2. आर्य समाज की स्थापना कब हुई ?

3. किसने कहा था 'वेदो के युग में लौटो'? 4. स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक कौन थे?

5. स्वामी दयानंद सरस्वती के बचपन का नाम क्या था ?

7.8 सारांश

स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारत की गौरवपूर्ण अतीत को आलोकित किया और देशवासियों को अपनी पतित अवस्था से ऊपर उठकर भविष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। वह आधुनिक भारत के सबसे महान ऐसे पथ-निर्माता माने जाने जाते हैं, जिसने जातियों, उपजातियों, छुआछूत, आदि के बीहड़ वनों को चीर कर भारत के पतन-काल में ईश्वराधना, देश-भक्ति तथा मानव सेवा का सहज मार्ग बताया। इन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि और दृढ़ संकल्प के साथ कोटिशः भारतीयों को आत्म सम्मान तथा मानसिक चेतना को उद्बुद्ध भी किया। दयानन्द जी ने देशवासियों में राष्ट्रवाद का संदेश ऐसे समय में दिया जबकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। दयानंद ने अपने दृष्टिकोण द्वारा भारतीयों को प्रथम बार यह अनुभव करने के लिए विवश किया है कि वे गौरवपूर्ण परंपरा के उत्तराधिकारी हैं । दयानंद ने स्वयं के धर्म, गौरवपूर्ण संस्कृति एवं स्वयं की भाषा द्वारा ही राष्ट्र के विकास का मार्ग दिखाया । स्वामी दयानंद सरस्वती प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज की नई अवधारणा प्रदान की और यह उद्घोष किया कि सुराज कभी स्वराज का स्थान नहीं ले सकता। उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के लिए

संपर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम एक भाषा हिंदी को स्वीकार किया तथा राष्ट्रीय चेतना को जगाया। उनका मानना था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, आंतरिक फूट, दूसरे देशों से संबंध में बात न करने के कारण भारत में आर्यों की स्वयं की स्वतंत्र एवम भयमुक्त सरकार नहीं रही। स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज की अवधारणाओं का भारतीय राजनीति में प्रयोग करने वाले प्रथम विचारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे। वे उस राष्ट्रवादी परंपरा के जनक थे, जिसका चरमोत्कर्ष लोकमान्य तिलक, बिपिन चंद्र पाल, महर्षि अरविंद और लाला लाजपत राय में देखते हैं।

7.9 शब्दावली

राजतन्त्र : शासन की वह प्रणाली है जिसमें एक व्यक्ति वंशानुगत आधार पर शासन का सर्वेसर्वा होता है

अहिंसा : किसी भी प्राणी को तन, मन, कर्म, वचन और वाणी से कोई नुकसान न पहुँचाना।

निकाय – प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा परिचालित शासन व्यवस्था।

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्वामी दयानंद सरस्वती 2. 10 अप्रैल, 1875
3. स्वामी दयानंद सरस्वती 4. स्वामी दयानंद सरस्वती 5. मूल शंकर

7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वी.पी.वर्मा ,2004 , *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन* , लक्ष्मी नारायण अग्रवाल , आगरा .
2. पी. के. चड्ढा एवं इन्द्रजीत सिंह सोढ़ी ,2007, *प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक* , यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर .
3. पुखराज जैन , 2012 ,*प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक* , एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा .
4. अवस्थी एवं आर. के. अवस्थी ,1996, *भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, रिसर्च पब्लिकेशन्स , जयपुर

7.12 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ए. अप्पादोराय , 2002, *पोलिटिकल थॉट इन इंडिया* , खामा पब्लिशर्स , दिल्ली.
2. ओ. पी. गाबा, 2005, *राजनीतिक विचारक विश्व कोश* , मयूर पेपर बैक , दिल्ली.
3. विष्णु भगवान, 2002 ,*भारतीय राजनीतिक विचारक* , आत्माराम एण्ड संस , दिल्ली.

7.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों की समीक्षा कीजिए I
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती के के सामाजिक विचारों का मूल्यांकन कीजिए।